ओ३म्

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या और श्लोक-मन्त्र शब्दानुक्रमणिका सहित)

भारतीय मनीषा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपनिषद् हैं, ये आध्यात्मिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट नवनीत हैं।

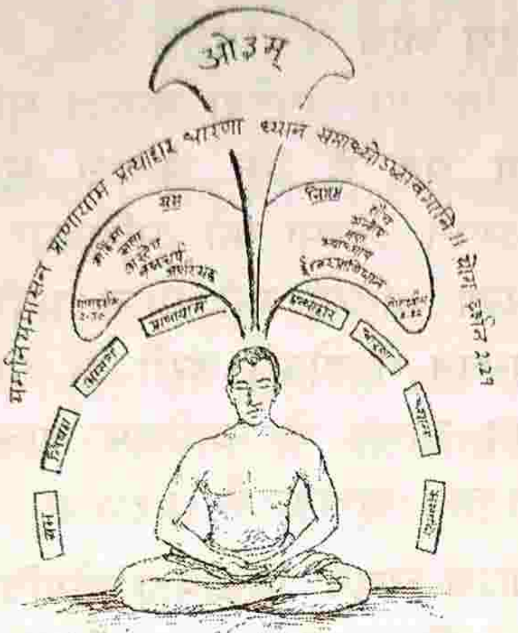
उपनिषद् शब्द का एक अर्थ 'रहस्य' भी है। उपनिषद् अथवा ब्रह्म-विद्या अत्यन्त गूढ़ होने के कारण साधारण विद्याओं की भाँति हस्तगत नहीं हो सकती, इन्हें 'रहस्य' कहा जाता है। इन रहस्यों को उजागर करने वालों में महात्मा नारायण स्वामीजी का नाम उल्लेखनीय है।

व्याख्याकार

महात्मा नारायण स्वामी



प्रश्न उपनिषद्



पातञ्जल अष्टांग योग

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

ईश, केन और कठोपनिषद् की व्याख्याओं के प्रकाशित होने के बाद अनेक स्वाध्यायशील नर-नारियों ने आगे की उपनिषदों की टीकाओं के शीघ्र प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की और आग्रह भी किया, परन्तु अनेकों झंझटों में फंसे रहने के कारण, इच्छा रखते हुए भी, इससे पहले मैं कुछ न कर सका। अब यह चौथी अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् की टीका और व्याख्या प्रकाशित की जाती है। आशा है स्वाध्यायशील और ब्रह्मविद्या का मर्म जानने के इच्छुक इससे लाभ उठावेंगे।

—नारायण स्वामी

बलिदान भवन, देहली
फा० बदी ९ सं० १९९१ वि०

॥ ओ३म् ॥

प्रश्नोपनिषद्

सुकेशा च भारद्वाजः शैव्यश्च सत्यकामः सौर्य्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

अर्थ–(सुकेशा च, भारद्वाजः) भारद्वाज का पुत्र सुकेशा, (शैव्यः च, सत्यकामः) शिवि का पुत्र सत्यकाम, (सौर्य्यायणी, च गार्ग्यः) सौर्य का पुत्र गार्ग्य, (कौशल्यः च, आश्वलायनः) अश्वल का पुत्र कौशल्य, (भार्गवः वैदर्भिः) भृगु का पुत्र वैदर्भि (कबन्धी, कात्यायनः) और कात्य का पुत्र कबन्धी (ते, ह, एते, ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः) वे प्रसिद्ध ये ब्रह्म में तत्पर और ब्रह्मनिष्ठ (परं ब्रह्म अन्वेषमाणाः) परमब्रह्म का अन्वेषण करते हुए (ह, वै) निश्चय (एषः) यह (तत्, सर्वम् वक्ष्यति, इति) वह सब कहेगा, ऐसा सोचकर ते, ह, (समित्पाणयः) वे प्रसिद्ध (छओं विद्वान्) समिधा हाथ में लेकर (भगवन्तं पिप्पलादम्) भगवान् पिप्पलाद के (उपसन्नाः) समीप गये ॥ १ ॥

तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ, यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

अर्थ–(तान्) उनको (ह) प्रसिद्ध (सः, ऋषिः) वह ऋषि (उवाच) बोला कि (भूयः एव) फिर भी (तपसा, ब्रह्मचर्य्येण) तप, ब्रह्मचर्य और (श्रद्धया) श्रद्धा से (संवत्सरम्) एक वर्ष तक (संवत्स्यथ) यहाँ रहो (उसके बाद) (यथाकामम्) जैसी रुचि हो (प्रश्नान् पृच्छथ) प्रश्नों को पूछो (यदि) जो (विज्ञास्यामः) हम जानते होंगे तो (सर्वम्) सब (ह) स्पष्ट रीति से (वः) तुम्हारे लिए (वक्ष्यामः इति) वर्णन करेंगे ॥ २ ॥

व्याख्या–उपर्युक्त प्रश्नोत्तर से ३ बातें प्रकट होती हैं–

(१) जिज्ञासु श्रद्धा के साथ, आचार्य की सेवा में जिज्ञासा की पूर्ति के लिए, समित्पाणि होकर जाता था– समित्पाणि का अर्थ है–हाथ में (यज्ञ के लिए) समिधा लेकर जाना। भाव इसका यह है कि जिज्ञासु को आचार्य के प्रति अपनी श्रद्धा क्रियात्मक रूप से प्रकट करनी चाहिए।

(२) आचार्य किसी जिज्ञासु को जब तक वे उसे अधिकारी नहीं समझ लेते थे ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं देते थे। इन छः जिज्ञासुओं को भी, वर्ष भर आश्रम में रहने का विधान इसी जाँच के लिए, पिप्पलाद ऋषि ने किया था।

(३) यदि सचमुच ये उत्कृष्ट जिज्ञासु हों तो उनका समय नष्ट न हो। इसलिए ब्रह्म की प्राप्ति के साधन ऋषि ने उन्हें प्रारम्भ ही में बतला दिये थे कि वे साधन ब्रह्मचर्य, तप और श्रद्धा हैं परन्तु उन जिज्ञासुओं को इतने मूल मन्त्र से तृप्ति नहीं हुई, इसलिए उन्होंने एक वर्ष रहना स्वीकार किया ॥ १, २ ॥

अथ प्रथमः प्रश्नः

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ। भगवन्! कुतो ह वा इमाः प्रजायन्त इति ॥ ३ ॥

अर्थ–(अथ) एक वर्ष के बाद (कबन्धी, कात्यायनः) कात्या के पुत्र कबन्धी ने (उपेत्य) पास जाकर (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् (ह, वा) निश्चय (कुतः) किससे (इमाः प्रजाः) ये प्रजाएँ (प्रजायन्ते इति) उत्पन्न होती हैं ? ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिञ्च प्राणञ्चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यतः इति ॥ ४ ॥

अर्थ–(तस्मै) उस (प्रश्नकर्त्ता) के लिए (सः) वह (ह) प्रसिद्ध (पिप्पलाद) ऋषि (उवाच) बोला कि (वै) निश्चय (प्रजाकामः) जगदुत्पत्ति की इच्छा करता हुआ (सः

प्रजापतिः) वह प्रजापति = ईश्वर (तपः अतप्यत) तप करता है, (तपः तप्त्वा) तप को तप कर (सः) वह (रयिं, च प्राणं, च) रयि और प्राण रूप (मिथुनम्) जोड़े को (उत्पादयते) उत्पन्न करता है कि (एतौ) ये दोनों (मे, बहुधा, प्रजाः) अनेक प्रकार की सृष्टि को (करिष्यतः इति) उत्पन्न करेंगे ॥ ४ ॥

व्याख्या–उत्तर में दो बातें समझने योग्य हैं :–

(१) प्रजा की कामना से प्रजापति ने तप को तपा, इस तप का दूसरा नाम ईक्षण है। महाप्रलय के बाद जगदुत्पत्ति के लिए जगत्कर्त्ता में स्वभावतः एक इच्छा उत्पन्न होती है कि प्रलयान्त हो चुका अब सृष्टि का आरम्भ होना चाहिये। इसी इच्छा को उपनिषद् के शब्दों में ईक्षण कहते हैं और पिप्पलाद ने इसी ईक्षण को यहाँ तप कहा है। यह इच्छा प्रकार की दृष्टि से स्वाभाविक ही होती है परन्तु इससे एक गति उत्पन्न होती है जो जड़ प्रकृति में प्रविष्ट होकर उसे गतिमान् बना देती है और प्रकृति में इस प्रकार गति आ जाने से विकृत होकर जगदुत्पत्ति के कार्य में आने लगती है। वेद और उपनिषद् में इसीलिए ईश्वर को गतिदाता कहा गया है कि वह गति देता है परन्तु स्वयं गति में नहीं आता (यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र ५)। अरस्तु ने भी इसीलिए ईश्वर को गति में न आने वाला गतिदाता (Unmoved Mover) कहा है।

(२) प्राण और रयि क्या वस्तु हैं जिनसे यह जगत् बन जाया करता है? प्राण को यद्यपि भोक्ता, अग्नि और अत्ता (खाने वाला) आदि कहा जाता है और इसी प्रकार रयि भोग्य अन्न और खाद्य आदि कहा जाता है परन्तु यहाँ प्राण उसी ईश्वर प्रदत्त गति को कहते हैं, जिसका नाम विज्ञानवेत्ताओं ने शक्ति (Energy) रखा हुआ है, और उसी गति से विकृत हुई प्रकृति रयि कहलाती है इसी रयि को विज्ञान में प्रकृति (Matter) कहा जाता है। वैज्ञानिक परिभाषा में प्राण नाम जिस गति शक्ति (Energy) का है और रयि जिस प्रकृति (Matter) को कहते हैं, उन्हीं के मेल से विकृत प्रकृति या विकृति की,

सूक्ष्म से स्थूल होती हुई अवस्थाओं के नाम, महत्त्व अहंकार, पञ्च तन्मात्रा, दशेन्द्रिय तथा मन (सूक्ष्मभूत) और आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी [स्थूल भूत] हैं। ये सूक्ष्म और स्थूल भूत केवल प्रकृति के, गतिशून्य विकार नहीं हैं किन्तु प्रकृति और गतिशक्ति दोनों का संघात है (Matter combined with energy) असल में जब तक ईश्वरप्रदत्त गतिशक्ति प्रकृति के महाप्रलयावस्था में प्राप्त, सत्त्व, रज और तम की समता को, विषमता में परिवर्तित नहीं कर देती, तब तक प्रकृति विकृत अवस्था को प्राप्त ही नहीं होती और विकृत अवस्था को प्राप्त न होने से उससे जगत् बन ही नहीं सकता ।।४।।

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च । तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ।।५।।

अर्थ–(ह, वै) निश्चय (आदित्यः) सूर्य ही (प्राणः) प्राण है और (चन्द्रमाः एव) चन्द्रमा ही (रयिः) रयि है। (यत्) जो (मूर्त्तं च) स्थूल और (अमूर्त्तं, च) सूक्ष्म जगत् है (एतत् सर्वम्) ये सब (रयिः) (मूर्तिः रयि एव) स्थूल (प्रकृति) ही है।

व्याख्या–इस वाक्य में प्राण को सूर्य और चन्द्रमा को रयि कहा गया है। सूर्य में सूर्यत्व (प्रकाश तथा गर्मी) उसी ईश्वर प्रदत्त गति और विकृत-प्रकृति के मेल का फल है। चन्द्रमा भी इन्हीं दोनों वस्तुओं के संघात का नाम है। इन दोनों में अन्तर केवल सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, गति की मात्रा की अधिकता, न्यूनता और स्वयं प्रकाशक होने न होने के कारण से है। सूर्य चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक महान् और गतिमान् है इसलिए उसे प्राण [सूक्ष्म शक्ति] और चन्द्रमा को रयि (स्थूल शक्ति कहा गया है। इन्हीं को भोक्ता और भोग्य भी कहते हैं ।।५।।

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते । यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं

यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति, तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥ ६ ॥

अर्थ–(अथ) अब (आदित्यः) सूर्य (उदयन्) उदय होता हुआ (यत्) जो (प्राचीं दिशम्) पूर्व दिशा में (प्रविशति) प्रवेश करता है (तेन) उससे (प्राच्यान्) पूर्व दिशा में रहने वाले (प्राणान्) वायुओं को (रश्मिषु) किरणों में (सन्निधत्ते) रखता है (यत् दक्षिणाम्) जो दक्षिण दिशा (यत् प्रतीचीम्) जो पश्चिम (यत् उदीचीम्) जो उत्तर (यत्, अधः) जो नीचे (यत्, ऊर्ध्वम्) जो ऊपर (यत्, अन्तरा, दिशः) जो बीच की दिशाओं को (यत् सर्वम्) जो सबको (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है (तेन) उस [प्रकाश] से (सर्वान् प्राणान्) समस्त वायुओं को (रश्मिषु) किरणों में (सन्निधत्ते) रखता है ।। ६ ।।

व्याख्या–सूर्य के उदय होने से समस्त दिशायें प्रकाशित हो उठती हैं और समस्त प्राण उसकी किरणों में समाविष्ट हो जाते हैं। प्राणों के किरणों में समाविष्ट होने के अभिप्राय दो हैं–

(१) ईश्वर प्रदत्त गतिशक्ति (प्राण) सबसे अधिक मात्रा में सूर्य में रहा करती है। (२) और यह कि पृथ्वी के चारों ओर का स्थित वायु, किरणों के मेल से, शक्तिमय होकर उपयोगी हो जाया करता है ।। ६ ।।

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

अर्थ–(सः एषः) वह यह (वैश्वानरः) सब जीवों में (विश्वरूपः) अनेक प्रकार का (प्राणः) प्राण (वायु) है, वही (अग्निः) अग्नि-आदित्य (रूप से) (उदयते) उदय होता है (तत्, एतत्) वह यह (ऋचा) मन्त्र द्वारा भी (अभि, उक्तम्) कहा गया है ।। ७ ।।

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्। सहस्त्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः ॥ ८ ॥

अर्थ–(विश्वरूपम्) सब रूप वाला (हरिणम्) किरणों वाला (जातवेदसम्) प्रकाश वाला (परायणम्) सबका आश्रय (एक ज्योतिः) एकमात्र ज्योति (तपन्तम्) प्रकाशमान (सहस्त्ररश्मिः) हजारों किरणों वाला (शतधा वर्त्तमानः) अनेक प्रकार से वर्त्तमान (प्रजानां प्राणः) प्रजाओं का प्राण (एषः सूर्य्यः) यह सूर्य (उदयति) उदय होता है।

व्याख्या–(१) प्राण का अनेक प्रकार प्राण, अपानादि भेदों से प्राणियों में रहना प्रत्यक्ष ही है उनके अग्नि (आदित्य) रूप से उदय होने का तात्पर्य यह है कि यह आदित्य के प्रकाश से तेजोमय हो जाता है।

(२) जो मन्त्र प्रमाण रूप में दिया गया है उसमें सूर्य का प्राण रूप से उदय होना कहा गया है। इन कथनों में विरोध कुछ नहीं है। पहले वाक्य में प्राण वायु के लिए और दूसरे में प्राण ईश्वरप्रदत्त गति के लिए प्रयुक्त हुआ है ।। ७, ८ ।।

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणञ्चोत्तरं च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चन्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। ते एव पुनरावर्त्तन्ते, तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ।। ९ ।।

अर्थ–(वै) निश्चय (संवत्सरः) संवत्सर = वर्ष (प्रजापतिः) प्रजापति है (तस्य) उसके (दक्षिणं, च, उत्तरं, च) दक्षिण और उत्तर (अयने) दो अयन = भाग हैं (तद्) सो (ह, वै) निश्चय (ये) जो लोग (इष्ट, आपूर्तम्) सकाम यज्ञ और आपूर्त = स्मार्त कर्म = कुआं, तालाब आदि का बनाना (कृतम्, इति उपासते) इन कर्मों को करते हैं। (ते) वे (चान्द्रमसं एव लोकम्) चन्द्रलोक ही को (अभिजयन्ते) जीत लेते (प्राप्त होते) हैं (ते, एव) वे ही (पुनः) फिर (आवर्त्तन्ते) लौटते हैं (तस्मात्) इसलिए (प्रजाकामाः) प्रजा = सन्तान की इच्छा वाले (एत ऋषयः) ये पुरुष (दक्षिणम्) दक्षिणायन को (प्रतिपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (एष, पितृयाणः) यह पितृयाण और (ह, वै) निश्चय (यः रयिः) यही रयि है ।। ९ ।।

व्याख्या–वर्ष को समष्टि रूप से प्रजापति ठहरा कर उसके दो भाग किये हैं। १. दक्षिण २. उत्तर। सूर्य ६ मास तक जब ध्रुव रेखा के उत्तर हुआ करता है तो उत्तरायण और जब वर्ष के बाकी ६ मासों में दक्षिण की ओर रहा करता है तब उसे दक्षिणायन कहते हैं। अयन नाम भाग का है। इनमें से उत्तरायण दूसरे की अपेक्षा अच्छा समझा जाता है, इसलिए उसे देवयान (मोक्षमार्ग) से सम्बन्धित किया गया है और दक्षिणायन को पितृयाण (स्वर्ग प्राप्ति) के लिए उपयोगी बतलाया गया है।

उपनिषद् के इस तथा अगले वाक्य में पितृयाण और देवयान का जो वर्णन है वह छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित पञ्चाग्नि विद्या का सूक्ष्म संकेत मात्र है। मरने के बाद की ३ गतियों में से एक गति वह है जिसमें मनुष्य पाप अथवा पाप पुण्य मिश्रित कर्मों के बदले में मनुष्य और पशु आदि योनियों में जाया करता है। दूसरी गति वह है जिसमें मनुष्य कर्म तो श्रेष्ठ करता है परन्तु उन्हें फल की इच्छा रखते हुए करता है इससे उन्हें मनुष्य योनियों में से, सर्वश्रेष्ठ योनि में, जिसे देवयोनि भी कहते हैं और जिसमें क्लेशों का प्रायः अभाव होता है और इसलिए उसका नाम स्वर्ग भी रखा गया है, जाना होता है। इसी दूसरी गति का वर्णन इस उपनिषद्वाक्य में किया गया है। पितृलोक, चन्द्रलोक अथवा स्वर्गलोक इसी देव (श्रेष्ठ मनुष्य) योनि का नाम है। स्मार्त कर्म (कुआं, तालाब आदि का बनाना) अथवा सकाम यज्ञ के फलरूप ही में यह योनि प्राप्त होती है। पितृलोक कहने का कारण यह है कि मनुष्य इस लोक (योनि) में पिता पुत्रादि के सम्बन्ध अथवा शरीरों के बन्धन से मुक्त नहीं होता। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है–**स ह सर्वतनूरेष यजमानो अमुष्मिंल्लोके सम्भवति।** (शतपथ ४/६१/१)

अर्थात् वह यजमान शरीर के साथ ही स्वर्ग में जन्म लेता है।

चन्द्रलोक कहने का तात्पर्य यह है कि इस योनि में मनुष्य सुख ही सुख का उपभोग करता है। चन्द्रमा 'चदि आह्लादे' धातु से बनता है, इसलिए चन्द्रमा का अर्थ ही सुख विशेष है।

इस योनि में मनुष्य सांसारिक ऐश्वर्य ही का उपभोग करता है। इसलिए इस (वर्ष के भाग) दक्षिणायन को "रयि" कहा गया है और आवागमन के भीतर रहने का विधान भी, इसीलिए इस लोक [योनि] में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के लिए है ॥ ९ ॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्या-दित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्। परायणमेत-स्मान्न पुनरावर्त्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

अर्थ–(अथ) और (उत्तरेण) उत्तरायण = देवयान के द्वारा (तपसा) तप से (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रियसंयम से (श्रद्धया) श्रद्धा से (विद्यया) ज्ञान से (आत्मानम्) आत्मा को (अन्विष्य) खोजकर (आदित्यम्) सूर्यलोक को (अभिजयन्ते) जीत लेते = प्राप्त होते हैं (एतत् वै) निश्चय वही (प्राणानाम्) प्राणों का (आयतनम्) स्थान है (एतत्) यह (अमृतम्) अविनाशी (अभयम्) भय रहित (एतत्) यह (परायणम्) परमाश्रय है (एतस्मात्) इससे (न पुनरावर्त्तन्ते) फिर नहीं लौटते (इति एषः) इस प्रकार यह (निरोधः) निवृत्ति [मार्ग] है। (तत् एषः श्लोकः) सो यह श्लोक [प्रमाण रूप] है ॥ १० ॥

व्याख्या–तीसरी गति [देवयान] मोक्षमार्गगामी होकर मोक्ष को प्राप्त करता है जिसका वर्णन इस वाक्य में है। मोक्ष प्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य, तप, श्रद्धा और उत्तमज्ञान बतलाते हुए आदित्य लोक के विजय की बात कहने का अभिप्राय यह है कि आदित्य असीम प्रकाश का पुञ्ज है और मुमुक्षु भी असीम ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके ही ब्रह्मलोक अथवा ईश्वर को प्राप्त हुआ करता है। इस लोक से न लौटने का वर्णन अन्य गतियों की अपेक्षा से है, जिनका पहले वर्णन हो चुका है और जिनमें मनुष्य बार-बार लौटा (जन्म लिया) करता है ॥ १० ॥

**पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्ये उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥ ११ ॥**

अर्थ–(परे) कोई विद्वान् (संवत्सर = वर्ष की) (पञ्चपादम्) पांच-पांव = पांच ऋतु वाला (पितर) पितर (द्वादश) बाहर (आकृति) आकृति = मास (लिंग) वाला (दिवः) द्युलोक के (अर्द्धे) बीच में (पुरीषिणम्) जलवाला (आहुः) कहते हैं (अथ) और (उ) इससे भिन्न (परे इमे, अन्ये) कोई अन्य विद्वान् (सप्त चक्र) सात चक्र (षडरे) छः अरे (विचक्षणम्) विविध प्रकार से लक्षित (अर्पितम्) जुड़ा हुआ (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या–यह मन्त्र अथर्ववेद ९/५/९ का है। इसमें वर्ष को पितर कहा गया है और उसके पैर (ऋतु) वर्णन किये गये हैं। हेमन्त और शिशिर इन दो ऋतुओं को एक मान लेने ही से ६ की जगह वर्ष की पांच ऋतु अनेक जगह वर्णित हैं। ऋतुओं को अन्यत्र वेद में पितर कहा गया है इसलिए इस वेदमन्त्र में वर्ष को भी पितर कहा गया है। द्युलोक के मध्य में बादलों के रूप में जल का होना स्पष्ट है। सप्तचक्र का तात्पर्य सात लोकों से है जो भूः, भुवः, स्वः आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं, छः अरे का तात्पर्य ६ ऋतुओं से है, दोनों पक्षों में वर्ष [समय] का व्यापकत्व सिद्ध है ॥ ११ ॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्तस्य कृष्णपक्ष एवं रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

अर्थ–(मासः, वै) मास ही (प्रजापतिः) प्रजापति है (तस्य) उसका (कृष्णः पक्षः, एव) कृष्ण पक्ष ही (रयिः) रयि है (शुक्लः) और शुक्ल पक्ष (प्राणः) प्राण है। (तस्मात्) इसलिए (एते ऋषयः) ये विद्वान् (शुक्ले) शुक्ल पक्ष में (इष्टिम्) यज्ञ को (कुर्वन्ति) करते हैं (इतरे) अन्य विद्वान् (इतरस्मिन्) दूसरे (कृष्ण) पक्ष में (करते हैं) ॥ १२ ॥

व्याख्या–जिस तरह वर्ष अपनी अनेक प्रजाओं–ऋतु, मासादि का स्वामी होने से प्रजापति नाम वाला है। इसी प्रकार मास भी अपनी अनेक प्रजाओं–पक्ष, दिन आदि का स्वामी होने से प्रजापति होता है। उसके अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं जिनमें शुक्ल को प्राण कृष्ण को रयि कहा जाता है। शुक्ल पक्ष में निष्काम या ज्ञानयज्ञ और कृष्ण पक्ष में सकाम यज्ञादि कर्म किये जाते हैं। परन्तु यह कोई सार्वजनिक नियम नहीं, इनका अपवाद भी होता है ।। १२ ।।

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्य्यमेवै-तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

अर्थ–(अहोरात्रः) दिन रात (वै) ही (प्रजापतिः) प्रजापति है। (तस्य) उसका (अहः, एव) दिन ही (प्राणः) प्राण है। (रात्रिः एव) रात ही (रयिः) रयि है (एते) वे लोग (प्राणम्) प्राण को (प्रस्कन्दन्ति) क्षीण करते हैं (ये) जो (दिवा) दिन में (रत्या) (रति-कारणभूत = स्त्री के साथ संयुज्यन्ते) संयोग करते हैं और (यत्) जो (रात्री) रात में (रत्या) स्त्री के साथ (संयुज्यन्ते) संयोग करते हैं (तत्) वह (ब्रह्मचर्य्यम्, एव) ब्रह्मचर्य ही है ।। १३ ।।

व्याख्या–इसी प्रकार दिन रात को भी, अपने विभाग फल मुहूर्त्तादि का स्वामी होने से प्रजापति कहा जाता है। दिन में प्रकाश की मात्रा अधिक होने से उसे प्राण और इसके विरुद्ध होने से रात को रयि कहा गया है, सन्तानोत्पत्ति का आरम्भिक कृत्य रात्रि में ही होना चाहिये, इसकी इस वाक्य में उचित रीति से शिक्षा दी गई है। रात्रि में भोग्य शक्ति के प्रबल होने से रज में वीर्य ग्रहण करके उसे गर्भ का रूप देने की अधिक योग्यता होती है। दिन में इसकी कमी से वीर्य व्यर्थ नष्ट होने से पुरुष की शक्ति (प्राण) का क्षीण होना स्पष्ट है ।। १३ ।।

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

अर्थ–(अन्नम् वै) अन्न ही (प्रजापतिः) प्रजापति है (ततः) उससे (ह, वै) निश्चय (तद्, रेतः) वह रेत वीर्य है (तस्मात्) उससे (इमाः प्रजाः) ये प्रजाएँ (प्रजायन्ते इति) उत्पन्न होती हैं ।। १४ ।।

व्याख्या–अन्न से वीर्य की उत्पत्ति होती है। उस वीर्य से मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इसलिए अन्न को यहाँ प्रजापति कहा गया है। कबन्धी कात्यायन का यह प्रश्न था कि प्रजा क्योंकर और किससे उत्पन्न होती है उसी के उत्तर देने के लिए निम्न उत्तर में कही गई हैं–

सं०, प्राणस्थानी	रयिस्थानी	विशेष
(१) प्राण	रयि	सन्तान पैदा होने के लिए भोक्ता और भोग्य होने चाहियें इसलिए उत्तर का प्रारम्भ यहाँ से किया गया है।
(२) आदित्य	चन्द्रमा	वीर्य के कारण, अन्न की उत्पत्ति के लिए इन दोनों की आवश्यकता स्पष्ट है।
(३) उत्तरायण	दक्षिणायन	इन दोनों की समष्टिवर्ष अर्थात् समय का होना उत्पत्ति के लिए अनिवार्य है।
(४) शुक्लपक्ष	कृष्णपक्ष	वर्ष के बाद मास का होना भी आवश्यक है।
(५) दिन	रात	यहाँ परिमित रूप से दिन को निषिद्ध ठहराते हुए रात्रि की उपयोगिता उत्पत्ति के कार्य के लिए बतलाई गई है।
(६) अन्न	वीर्य	अन्न और वीर्य साक्षात् सन्तानोत्पत्ति के कारण हैं ही, इसलिए इनके वर्ण के साथ ही कबन्धी के प्रश्न का उत्तर ऋषि ने दे दिया ।। १४ ।।

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

अर्थ–(तत्) सो (वै) निश्चय है (ह) प्रसिद्ध (ये) जो गृहस्थ (प्रजापति, व्रतम्) प्रजापति व्रत को (चरन्ति) पालन करते हैं। (ते) वे (मिथुनम्) पुत्र-पुत्री रूप दोनों प्रकार की सन्तान को (उत्पादयन्ते) उत्पन्न करते हैं और (येषाम्) जिनके (तपः) तप और (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय संयम) साधन हैं और (येषु) जिनमें (सत्यम्) सत्य (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (तेषाम्, एव) उन्हीं का (एषः) यह (ब्रह्मलोकः) ब्रह्मलोक है ॥ १५ ॥

(तेषाम्) उनका (असौ) यह (विरजः) निर्मल (ब्रह्मलोकः) ब्रह्मलोक है (येषु) जिनमें (जिह्मम्) कुटिलता और (अनृतम्) झूठ (न) नहीं और (माया) छल कपट (च) भी (न इति) नहीं है ॥ १६ ॥

व्याख्या–उत्तर देने के बाद फलश्रुति के ढंग के ये दोनों अन्तिम वाक्य हैं। इनमें गृहस्थों को शिक्षा दी गई है कि यदि वे प्रजापति व्रत [सन्तानोत्पत्ति] का पालन तप, ब्रह्मचर्य और सत्य का पालन करते हुए करेंगे तो वे सन्तान पैदा करने के लिए अपने को इन गुणों से निर्मल करते हुए मोक्ष के भी अधिकारी बन सकेंगे ॥ १५, १६ ॥

इति प्रथमः प्रश्नः

अथ द्वितीयः प्रश्नः

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन् ! कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते । कतर एतत्प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥ १७ ॥

अर्थ–(अथ) इसके बाद (ह) प्रसिद्ध (एनं) इस [पिप्पलाद] से (भार्गवो वैदर्भिः) भृगु के पुत्र वैदर्भि ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन्! (कति, एव देवाः) कितने देव (प्रजाम्) शरीर को (विधारयन्ते) धारण करते हैं और (कतरे, एतत्) कितने इसको (प्रकाशयन्ते) प्रकाशित करते हैं (पुनः) फिर (एषाम्) इनमें (कः) कौन (वरिष्ठः, इति) श्रेष्ठ है ॥ १७ ॥

व्याख्या–इन्द्रिय और प्राण का संवाद उपनिषदों में अनेक स्थानों पर वर्णित है यह प्रश्न भी उसी से सम्बन्धित है। जिन इन्द्रियों के कारण शरीर स्थिर रहता है उनमें कौन श्रेष्ठ है, यही विवरण इस प्रश्न में वैदर्भि ने पूछा है ॥ १७ ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथ्वी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ १८ ॥

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मामोह मापद्यथाऽहमेव तत्पञ्चधाऽ-ऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति ॥ १९ ॥

अर्थ–(तस्मै) उस (प्रश्नकर्त्ता) के लिए (ह) प्रसिद्ध (सः) वह [पिप्पलाद] (उवाच) बोला (ह, वै) निश्चय (एषः) यह (आकाशः) आकाश (वायुः) वायु (अग्निः) अग्नि (आपः) जल और (पृथ्वी) पृथ्वी [ये ५ महाभूत] और (वाक् मनः) वाणी तथा मन (चक्षुः) आँख (श्रोत्रं, च) और कान (देवाः) देव [इन्द्रियां हैं] (ते) वे (प्रकाश्य) प्रकाशित होकर (अभिवदन्ति), [परस्पर स्पर्द्धा करते हुए] कहते हैं कि (वयम्) हम (एतत्) इस (बाणम्) शरीर को (अवष्टभ्य) स्तम्भवत् होकर (विधारयामः) धारण करते हैं ॥ १८ ॥

(तान्) उनसे (वरिष्ठः) श्रेष्ठ (प्राणः) प्राण (उवाच) बोला (मा) मत (मोहम्) मोह को (आपद्यथ) प्राप्त होओ

(अहम्, एव) मैं ही (पञ्चधा) पांच भेदों से (आत्मानम्) अपने को (प्रविभज्य) विभक्त करके (तत्, एतत्) उस इस (बाणम्) शरीर को (अवष्टभ्य) खम्भा होकर (विधारयामि, इति) धारण करता हूं ॥ १९ ॥

व्याख्या–आकाशादि पञ्चभूतों से यह इन्द्रिय गोलकमय स्थूल शरीर बनता है और चक्षु आदि इन्द्रिय शक्ति अथवा असल इन्द्रियां सूक्ष्म भूतों से बनी होने के कारण सूक्ष्म शरीर का अंग हैं ये सब इन्द्रियां प्रकार की दृष्टि से एक पक्ष में हैं और प्राण दूसरे पक्ष में। इन्द्रियां समझती हैं कि जीवन का कारण वे हैं परन्तु प्राण इसका प्रतिवादी है, वह कहता है कि प्राण, अपान आदि पञ्च भेदों से वही समस्त शरीर में व्याप्त होकर शरीर की स्थिति का कारण है ॥ १८, १९ ॥

तेऽश्रद्दधाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रञ्च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ २० ॥

अर्थ–(ते) वे [इन्द्रियां] (अश्रद्दधानाः) [प्राण की बात पर] श्रद्धा न रखने वाली (बभूवुः) हुई [तब] (सः) वह (प्राणः) प्राण (अभिमानात्) घमण्ड से (ऊर्ध्वम्) ऊपर (उत्क्रमते, इव) निकलने सा लगा (तस्मिन्, उत्क्रामति) उसके निकलने पर (इतरे सर्वे एव) अन्य सब ही (उत्क्रामन्ते) निकलने लगते हैं (च) और (तस्मिन्) उसके (प्रतिष्ठमाने) प्रतिष्ठित होने पर (सर्वे, एव) सब ही (प्रतिष्ठन्ते) प्रतिष्ठित होने [ठहरने] लगते हैं (तत्, यथा) सो जैसे (मधुकरराजानम्) शहद की मक्खियों के राजा के (उत्क्रामन्तम्) निकलने पर (सर्वाः एव) सब ही (मक्षिकाः) मक्खियां (उत्क्रामन्ते) निकल जाती हैं (च) और (तस्मिन्) उसके (प्रतिष्ठमाने) ठहरने पर (सर्वाः एव) सभी (प्रतिष्ठन्ते) ठहर जाती हैं (एवं) इसी प्रकार (वाङ्, मनः, चक्षुः, श्रोत्रम्,

च) वाणी, मन, आँख और कान [प्राण के निकलने पर निकल जाती हैं] (अथ) इसलिए (ते) वे [सब इन्द्रियां] (प्रीताः) प्रीति-सम्पन्न होकर (प्राणम्) प्राण की (स्तुन्वन्ति) स्तुति करती हैं ॥ २० ॥

व्याख्या-जब इन्द्रियों को प्राण के कथन पर श्रद्धा न हुई तब प्राण ने इन्द्रियों को श्रद्धावान् बनाने के उद्देश्य से शरीर से निकलना-सा चाहा। चूंकि प्राण के शरीर में रहने से ही अन्य सब इन्द्रियां आदि शरीर में रहती हैं और निकल जाने से निकल जाती हैं, जैसे शहद की मक्खियों के राजा के आने पर सब आतीं और निकलने पर निकल जाती हैं, इसी प्रकार जब वाणी आदि इन्द्रियों को अपनी निर्बलता और प्राण की महत्ता का ज्ञान हो गया तब उनमें, प्राण के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। वे उसकी प्रशंसा करने लगीं ॥ २० ॥

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो भगवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चाऽमृतञ्च यत् ॥ २१ ॥

अर्थ-(एषः) यह [प्राण] (अग्निः) अग्नि रूप से (तपति) प्रकाशित होता है (एषः) यह [शरीर रूप ब्रह्माण्ड का] (सूर्यः) सूर्य है (एषः) (भगवान्) ऐश्वर्यमय (पर्जन्यः) मेघ है (एषः) यह (वायुः) वायु है (एषा) यह (पृथिवी) [पृथिवी रूप] शरीर का आश्रय स्थान और (रयिः) पोषण करने वाला (देवः) देव है और (सत्) कारण (असत्) कार्य (च) और (अमृतम्) अविनाशी है ॥ २१ ॥

व्याख्या-उपनिषद्वाक्य में जहाँ प्राण की अग्नि, सूर्य, पर्जन्य भगवान्, वायु, पृथिवी और रयि रूप में इन्द्रियों से स्तुति कराई गई है वहाँ उसे सत् [कारण] असत् [कार्य] और अमृत भी कहा है। प्राण के शरीर में आते ही शरीर में जीवन के चिह्न प्रकट होने लगते हैं इसलिए उसे कारण कहा गया है और वह चूंकि सूक्ष्म भूतों की रचना है इसलिए इस दृष्टि से वह कार्य भी है। मनुष्य की मृत्यु होने से, स्थूल शरीर जो चक्षु आदि इन्द्रियों का गोलक है, नष्ट हो जाता है परन्तु प्राण सूक्ष्म शरीर

का एक अंग होने से, एक स्थूल शरीर से निकल दूसरे में चला जाता है। स्थूल शरीर के साथ नष्ट नहीं होता इसलिए उसे अपेक्षाकृत अमृत = अविनाशी भी कहा गया है ॥ २१ ॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूंषि
सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ २२ ॥

अर्थ–(रथनाभौ) रथ के पहियों में (अरा इव) अरों की तरह (प्राणे) प्राण में (सर्वम्) सब (ऋचः) ऋक् (यजूंषि) यजुः और (सामानि) साम [तीनों प्रकार की ऋचायें, जो चारों वेदों में हैं] (यज्ञ) यज्ञ, (क्षत्रम्) बल (च) और (ब्रह्म) ज्ञान (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित हैं ॥ २२ ॥

व्याख्या–जिस प्रकार रथ के पहियों में सब ओर अरे जुड़े हुए होते हैं। इसी प्रकार प्राण में ऋचा, यजुः और साम अर्थात् तीन प्रकार के मन्त्र वाले चारों वेद, वेदविहित यज्ञ, बल और ज्ञान सभी प्राण ही से जुड़े हुए होते हैं। स्पष्ट है कि मनुष्य का ज्ञान, बल और शुभाशुभ कर्म आदि सभी शरीर में प्राण के रहते हुए ही रह सकते हैं, न रहने पर कुछ नहीं रहता ॥ २२ ॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे तुभ्यं प्राण!
प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ २३ ॥

अर्थ–(प्राण) हे प्राण! (यः) जो तू (प्राणैः) प्राणादि [५ भेदों] के साथ (प्रतितिष्ठसि) शरीर में रहता है (प्रजापतिः) प्राणियों का अध्यक्ष होकर (गर्भे) गर्भ में (चरसि) विचरता है (त्वम्, एव) तू ही (प्रजायसे) फिर उत्पन्न होता है उस (तुभ्यम्) तेरे लिए (इमाः, प्रजाः) ये सब प्रजाएं = इन्द्रियां (बलिम्) बलि = भाग (हरन्ति) देती हैं ॥ २३ ॥

व्याख्या–शरीरान्तर्गत गर्भ में गर्भ की स्थापना का कारण प्राण है, यदि रज और वीर्य के साथ प्राण न मिले तो गर्भ की स्थापना नहीं हो सकती। प्राण के ही कारण गर्भ की वृद्धि होती है और प्राण ही के आश्रय से बालक की उत्पत्ति होती है, इन्द्रियों को जो पुष्टि भोजन करने से प्राप्त होती है वे सभी उसी पुष्टि का वह भाग, जितना प्राण के लिए जरूरी है, प्राण को देती हैं। इसी को वाक्य में बलि [कर] देना कहा गया है ॥ २३ ॥

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा। ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ २४ ॥

अर्थ–तू (देवानाम्) [सूर्यादि] देवों का [वह्नितमः] अग्नि [रूप से हव्यवाहक] (असि) है। (पितॄणाम्) पितरों का तू (प्रथमा) मुख्य (स्वधा) कव्य है (ऋषीणाम्) ऋषियों = इन्द्रियों का (सत्यम्) सत्य (चरितम्) चरित्र है (अङ्गिरसाम्) शरीर के अंगों का (अथर्वा) न सुखाने वाला (असि) है ॥ २४ ॥

व्याख्या–देवों का वह भाग जो यज्ञ द्वारा उन्हें पहुंचता है हव्य, पितरों का भाग जो पितृयज्ञ द्वारा उन्हें मिलता है कव्य कहलाता है।

सूर्यादि देवों का भाग अग्नि वायु द्वारा ही उन्हें पहुंचता है इसलिए प्राण को अग्नि = हव्यवाहक कहा गया है। पितरों के कव्य ग्रहण करने का कारण तो स्पष्ट रीति से प्राण होता ही है, समस्त इन्द्रियों की पुष्टि और उनके व्यापार प्राण ही के द्वारा हुआ करते हैं। इसीलिए उसे शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों की पुष्टि देने और न सुखाने वाला कहा गया है ॥ २४ ॥

इन्द्रस्त्वं प्राण ! तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता। त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ २५ ॥

अर्थ–(प्राण) हे प्राण ! (त्वम्) तू (तेजसा) तेज से (रुद्रः) तेजस्वी है (परिरक्षिता) रक्षा करने वाला (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (असि) है। (त्वम्) तू (अन्तरिक्षे) आकाश में (चरसि) विचरता है (त्वमू) तू (ज्योतिषाम्) नक्षत्रों का (पतिः) स्वामी (सूर्यः) सूर्य है ॥ २५ ॥

व्याख्या–फिर प्राण को तेजस्वी, रक्षक, इन्द्र और सूर्य कहा गया है। उसकी तेजस्विता, रक्षकता और इन्द्रत्व तो प्रकट ही हैं। परन्तु उसे सूर्य क्यों कहा गया है? जिस प्रकार प्राणी शरीर के अन्तर्गत प्राण रूप से वर्तमान है उसी प्रकार बाह्य संसार में वायु रूप से उपस्थित है। शरीर के अन्दर जिस प्रकार वह इन्द्रियों का स्वामी समझा जाता है क्योंकि बिना उसके वे जीवित नहीं रह सकतीं, न अपना व्यवहार करने में समर्थ हो

सकती हैं। उसी प्रकार बाह्य जगत् में बिना वायु के नक्षत्रों का काम भी नहीं चल सकता, उनमें जो प्राणी हैं वे भी बिना वायु के जिन्दा नहीं रह सकते, न वनस्पति ही बाकी रह सकती हैं और न उनके परिभ्रमण का काम पूरा हो सकता है इस दृष्टि से प्राण को उन नक्षत्रों का स्वामी सूर्य कहा गया है ॥ २५ ॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ! ते प्रजाः ! आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ २६ ॥

अर्थ–(प्राण) हे प्राण! (यदा) जब (त्वम्) तू (अभिवर्षसि) मेघ रूप में बरसता है (अथ) तब (ते) तेरी (इमाः, प्रजाः) ये प्रजाएँ (कामाय) यथेष्ठ (अन्नम्) अन्न (भविष्यति) होगा [इस आशा से] (आनन्दरूपाः) आनन्द रूप होकर (तिष्ठन्ति, इति) ठहरती हैं ॥ २६ ॥

व्याख्या–यहाँ प्राण की मेघ से उपमा दी गई है। वर्षा के प्रारम्भिक कार्य भाप बनने से लेकर अन्तिम कार्य बरसने तक प्रत्येक कार्य में वायु की सहायता अपेक्षित होती है। इसी विचार से प्राण को इस वाक्य में वर्षा का कारण कहा गया है ॥ २६ ॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥ २७ ॥

अर्थ–(प्राण) हे प्राण ! (त्वम्) तू (व्रात्यः) संस्कार की अपेक्षारहित = स्वभाव ही से शुद्ध है (एकः ऋषिः) एक ऋषि=अग्नि रूप से (अत्ता) [सबका] भक्षण करने वाला है (विश्वस्य सत्पतिः) विश्व का पति है (वयम्) हम सब (आद्यस्य) तेरे खाने योग्य [अन्नादि के] (दातारः) देने वाले हैं (मातरिश्वा) हे वायु रूप प्राण ! (त्वम्) तू (नः) हमारा [पिता] रक्षक है ॥ २७ ॥

व्याख्या–स्मृति ग्रन्थों में उसकी संज्ञा व्रात्य होती है जो संस्कार की अवधि के भीतर यज्ञोपवीत संस्कार नहीं करता। उसके बाद उसे उस संस्कार के करने का अधिकार बाकी नहीं रहता ! यहां प्राण को व्रात्य इससे भिन्न अभिप्राय के प्रकट करने के लिए प्रशंसा रूप में कहा गया है, अर्थात् वह

स्वभावतः संस्कृत है, उसके लिए किसी संस्कार की जरूरत ही नहीं है। सबका ग्रहणकर्त्ता होने से वह अत्ता है। विश्व से अभिप्राय शरीर के अन्दर का विश्व अर्थात् सब कुछ। उसी को यहां प्राण का पति कहा गया है ।। २७ ।।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमः ॥ २८ ॥

अर्थ–(या) जो (ते) तेरी (तनूः) फैली हुई [शक्ति] (वाचि) वाणी में (या) जो (श्रोत्रे) कान में (च) और (या) जो (चक्षुषि) आँख में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है (च) और (या) जो (मनसि) मन में (सन्तता) फैली हुई है (ताम्) उसको (शिवम्) मंगलकारिणी (कुरु) कर (मा) मत (उत्क्रमः) निकल ।। २८ ।।

व्याख्या–प्राण की शक्ति समस्त इन्द्रियों के अन्दर है उसी के लिए इन्द्रियां प्राण से प्रार्थना करती हैं कि उन्हें, शरीर में रखते हुए मंगलकारिणी कर ।। २८ ।।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ २९ ॥

अर्थ–(त्रिदिवे) तीनों लोकों में (यत, प्रतिष्ठितम्) जो कुछ वर्तमान है (इदम्, सर्वम्) यह सब (प्राणस्य) प्राण के (वशे) वश में है (माता, इव) माता के समान (पुत्रान्) पुत्रों की (रक्षस्व) रक्षा कर (च) और (श्रीः) ऐश्वर्य (प्रज्ञां, च) और बुद्धि (नः) हमें (विधेहि, इति)।। २९ ।।

व्याख्या–प्राण को शरीर के भीतर और शरीर से बाहर के समस्त वायु के व्यापक अर्थ में लेकर, उन सबका उसे रक्षक कहा गया है और उसी से रक्षा की प्रार्थना करते हुए ऐश्वर्य और बुद्धि की याचना की है।

प्राण बुद्धि किस प्रकार दे सकता है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि मनुष्य प्राण की स्वार्थरहित सत्ता पर विचार और अनुकरण करने से ही अच्छी बुद्धि का मालिक बना करता है ।। २९ ।।

इति द्वितीयः प्रश्नः ॥ २ ॥

अथ तृतीयः प्रश्नः

अथ हैनं कौशल्यश्चाऽश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्! कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिन् शरीरे आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रतिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ ३० ॥

अर्थ–(अथ) इसके बाद (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस [ऋषि से] (आश्वलायनः कौशल्यः) अश्वल के पुत्र कौशल्य ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन्! (एषः, प्राणः) यह प्राण (कुतः) कहां से (जायते) उत्पन्न होता है! (कथम्) कैसे (अस्मिन् शरीरे) इस शरीर में (आयाति) आता है। [आत्मानं वा] और अपने को (प्रविभज्य) विभक्त कर (कथम्) किस प्रकार (प्रतिष्ठते) ठहरता है? (केन) किस प्रकार (उत्क्रमते) निकलता है? और (कथम्) कैसे (बाह्यम्) बाह्य जगत् को (अभिधत्ते) धारण करता है? और (कथम्) क्यों कर (अध्यात्मम्) अध्यात्म जगत् को? ॥ ३० ॥

व्याख्या–प्राण के सम्बन्ध में कौशल्य ने ये ६ प्रश्न किये हैं–

१. प्राण कहां से उत्पन्न होता है?
२. इस शरीर में कैसे आता है?
३. किस प्रकार अपने को विभक्त कर शरीर में ठहरता है?
४. कैसे शरीर से निकलता है?
५. किस प्रकार बाह्य जगत् को धारण करता है?
६. किस प्रकार अध्यात्म जगत् को धारण करता है?

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ ३१ ॥

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोधिकृतेनाऽयात्यस्मिन् शरीरे ॥ ३२ ॥

अर्थ–(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिए (सः) वह [ऋषि] (ह) स्पष्ट रीति से (उवाच) बोला कि (अतिप्रश्नान्) तू बहुत गम्भीर प्रश्नों को (पृच्छसि) पूछता है (ब्रह्मिष्ठः) ब्रह्म में निष्ठा वाला (असि, इति) है (तस्मात्) इसलिए (ते तेरे लिए (अहम्) मैं (ब्रवीमि) कहता हूँ ।। ३१ ।।

(आत्मनः) आत्मा से (एषः, प्राणः) वह प्राण (जायते) उत्पन्न होता है (यथा) जैसे (पुरुषे) शरीर में (एषा, छाया) यह छाया [उसी प्रकार] (एतस्मिन्) इस शरीर में (एतत्) यह [प्राण] (आततम्) फैला हुआ है (मनोधिकृतेन) मन में [कर्म से उत्पन्न हुई वासना से] (अस्मिन् शरीरे) इस शरीर में (आयाति) आता है ।। ३२ ।।

व्याख्या–प्राण सूक्ष्म शरीर का एक अंग है। सूक्ष्म शरीर के साथ आत्मा स्थूल शरीर में प्रविष्ट हुआ करता है। इसीलिए इस स्थूल शरीर में प्राण की उत्पत्ति का निमित्त आत्मा को बतलाया गया है। प्राण शरीर के देश विशेष में नहीं रहता किन्तु सारे शरीर में, छायावत् फैला हुआ रहता है।

"मनोधिकृत" नाम वासना का है–कर्म से वासना की उत्पत्ति होती है। यह वासना ही जन्म का कारण हुआ करती है। यह वासना उत्पन्न उन्हीं कर्मों से होती है जो फल की इच्छा से [सकाम] किये जाते हैं। इसी वासना से जीव, सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर को जन्म के द्वारा प्राप्त किया करता है। पिप्पलाद ने इसीलिए दूसरे प्रश्न का दूसरा उत्तर यह दिया है कि वासना से प्राण, इस स्थूल शरीर में आया करता है ।। ३१, ३२ ।।

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते । एतान् ग्रामानेतान ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते ।। ३३ ।।

को

अर्थ–(यथा) जैसे (सम्राट्, एव) राजा ही (अधिक्र शुद्ध अधिकारियों को (विनियुङ्क्ते) नियुक्त करता है विशुद्ध रक्त ग्रामान्, एतान्, ग्रामान्) इन ग्रामों को (अधितिष्ठ ग्गणना करना में ले (एवम्, एव) इस ही प्रकार (एषः क प्राण परिभ्रमण

(इतरान्) अन्य (प्राणान्) प्राणों को (पृथक्-पृथक् एव) पृथक्-पृथक् ही (सन्निधत्ते) नियुक्त करता है ॥ ३३ ॥

व्याख्या—तीसरे प्रश्न का उत्तर इस वाक्य में दिया गया है अर्थात् जिस प्रकार राजा अपने अधिकारियों को काम बांटकर उन्हें पृथक्-पृथक् स्थानों पर नियुक्त कर देता है इसी प्रकार मुख्य प्राण अन्य प्राणों में से प्रत्येक को पृथक्-पृथक् काम बतलाकर उन्हें भिन्न-भिन्न स्थानों पर नियुक्त करता है ॥ ३३ ॥

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते मध्ये तु समानः । ह्यैतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ३४ ॥

अर्थ—(पायूपस्थे) मल और मूत्रेन्द्रिय में (अपानम्) अपान (मुखनासिकाभ्याम्) मुख, नासिका (चक्षुः, श्रोत्रे) और आँख, कान में (प्राणः) प्राण (स्वयं) स्वयं (प्रतिष्ठते) ठहरता है (तु) और (मध्ये) शरीर के मध्य में (समानः) समान [रहता है] (हि) निश्चय (एषः) यह (समानः) (एतत्) इस (हुतम्) खाये हुए (अन्नम्) अन्न को समम्) परिपाक को (नयति) पहुँचाता है (तस्मात्) उससे (एताः) ये (सप्तार्चिषः) सात ज्वालायें [दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुख की] भवन्ति) होती हैं ॥ ३४ ॥

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ३५ ॥

अर्थ—(हृदि) हृदय में (हि) निश्चय (एषः) यह (आत्मा) आत्मा रहता है। (अत्र) इसी (हृदय) में (एतत्) यह (एकशतम्) एक सौ एक (नाडीनाम्) नाड़ियाँ हैं (तासाम्) उनमें से (एकैकस्याम्) एक-एक में (शतम् शतम्) सौ-सौ (भेद हैं) फिर उनमें (प्रति, शाखा, नाड़ी) प्रत्येक शाखा रूप नाड़ी के (द्वासप्ततिः, द्वासप्ततिः, सहस्राणि) बहत्तर-बहत्तर हजार [भेद] (भवन्ति) होते हैं (आसु) इनमें (व्यानः) व्यान (चरति) विचरता है ॥ ३५ ॥

अथैकयोर्ध्वम् उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ३६ ॥

अर्थ–(अथ) और (एकया) (उन १०० नाड़ियों में से) एक (ऊर्ध्वः) ऊपर जाने वाला (उदानः) उदान है। (पुण्येन) पुण्य कर्म से (पुण्यं लोकम्) पुण्य = स्वर्ग लोक (पापेन) और पाप से (पापम्) पाप = नरक लोक और (उभाभ्याम् एव) [पाप-पुण्य] दोनों ही से (मनुष्यलोकम्) मनुष्य लोक को (नयति) ले जाता है ॥ ३६ ॥

व्याख्या–कौन-कौन प्राण कहां-कहां नियुक्त होता है उसका विवरण इन वाक्यों में दिया गया है–

(१) अपान नामक प्राण मल और मूत्रेन्द्रिय विभाग में रहकर अपना काम करता है।

(२) मुख, नासिका, आँख और कान के क्षेत्र में प्राण स्वयं रहकर उनके कार्यों का साधन बनता है।

(३) शरीर के मध्य नाभि क्षेत्रादि में समान नामक प्राण रहता है और इसका काम यह कि खाये हुए अन्न को मेदे में पचावे। यहाँ से सात ज्वालाएँ आँख, कान आदि शरीरावयवों में जाने वाली निकलती हैं इन्हीं को जठराग्नि भी कहते हैं, इससे भोजन भलीभांति पच जाता है और शरीर की पुष्टि का कारण बनता है। जठर नाम ज्वाला है ॥ ३४ ॥

(४) हृदयस्थ आकाश आत्मा का निवास स्थान है। इसी हृदय से १०१ नाड़ियां निकल कर तमाम शरीर में फैली हुई हैं। फिर उनमें प्रत्येक के सौ-सौ भेद हुए और फिर उनमें से प्रत्येक के बहत्तर-बहत्तर हजार भेद हुए–

$$१०१ \times १०० = १०१००$$
$$१०१०० \times ७२००० = ७२७२००००००$$

यह बात नहीं है कि ठीक-ठीक यही संख्या नाड़ियों की है किन्तु तात्पर्य केवल यह दिखलाना है कि हृदय से शुद्ध रक्त ले जाने वाली और हृदय में तमाम शरीर से अशुद्ध रक्त लाने वाली नाड़ियां बहुसंख्या में हैं, जिनकी गणना करना कठिन है। इन समस्त नाड़ियों में व्यान नामक प्राण परिभ्रमण

करता है और उसका काम यह है कि रक्त को शुद्ध भी रखे तथा समस्त शरीर में उसे पहुँचावे भी ।। ३५ ।।

(५) उन एक सौ एक नाड़ियों में से एक के द्वारा ऊपर जाने वाले प्राण का नाम उदान है। जो मृत्यु के समय शरीर से निकलने वाले सूक्ष्म शरीर सहित जीव को कर्मानुसार, भिन्न-भिन्न स्थानों को पहुंचाया करता है। इसके द्वारा चौथे प्रश्न का भी उत्तर दे दिया गया ।। ३६ ।।

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ।। ३७ ।।

अर्थ–(ह) प्रसिद्ध (आदित्यः, वै) सूर्य ही (बाह्यः) बाहरी (प्राणरूप से) (उदयति) प्रकाशित होता है (हि) निश्चय (एषः) यह (सूर्य) (एनम्) इस (चाक्षुषम्, प्राणम्) आँख में रहने वाले प्राण को (अनुगृह्णानः) अनुगृहीत करता हुआ स्थित है (पृथिव्याम्) पृथ्वी में (यः) जो (देवता) आकर्षण शक्ति है (सा, एषा) वह यह (शक्ति) (पुरुषस्य) पुरुष के (अपानम्) अपान को (अवष्टभ्य) खींच कर (धारण किये हुए है) (अन्तरा) बीच में (यद्) जो (आकाशः) आकाश के अन्तर्गत वायु है (सः) वह (समानः) समान है (वायुः) वायु [जो बाहर है] (सः) वह (व्यानः) व्यान है ।। ३७ ।।

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ।। ३८ ।।

अर्थ–(ह) प्रसिद्ध (तेजः वै) तेज ही (उदानः) उदान है (तस्मात्) इसलिए (उपशान्ततेजाः) चेतनाहीन प्राणी (मनसि) मन में (सम्पद्यमानैः) लीन हुए (इन्द्रियैः) इन्द्रियों के साथ (पुनर्भवम्) पुनर्जन्म को प्राप्त होता है ।। ३८ ।।

व्याख्या–अब पांचवें प्रश्न का उत्तर दिया जाता है अर्थात् किस प्रकार प्राण बाह्य जगत् को धारण करता है–

(१) सूर्य को बाह्य प्राण बतलाते हुए कहा गया है कि वह उदय होकर शरीर में चक्षुओं के भीतर रहने वाले प्राण पर अनुग्रह रखा करता है।

(२) पृथ्वी में जो आकर्षण है वह मनुष्य शरीर में रहने वाले अपान को खींचकर धारण किये हुए हैं।

(३) सूर्य और पृथ्वी के बीच का जो आकाश है वह समान और।

(४) वायु व्यान नामक प्राण है ।। ३७ ।।

(५) तेज ही उदान है। इसीलिए कहा जाता है कि जिनका तेज शान्त हो चुका है ऐसे प्राणी मन में लीन हुए इन्द्रियों के साथ पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं ।। ३८ ।।

यच्चित्तस्तेनैषः प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथा सङ्कल्पितं लोकं नयति ।। ३९ ।।

अर्थ–(यत्, चित्तः) जो चित्त में वासना है (तेन) उसी से (एषः) यह जीव (प्राणम्) प्राण को (आयाति) प्राप्त होता है। (प्राणः) प्राण (तेजसा) तेज से (युक्त) मिलकर (आत्मना, सह) आत्मा के साथ (तम्) उस को (यथा सङ्कल्पितं) जैसा या जो संकल्प किये हुए (लोकम्) लोक हैं उनको (नयति) पहुँचाता है ।। ३९ ।।

व्याख्या–अब छठे प्रश्न का उत्तर दिया जाता है। उपनिषद् का यह उत्तर "अन्तमति सो गति" की कहावत को सच्चा सिद्ध करता है। मनुष्य मर कर कहां जाता है? उत्तर दिया गया है कि जैसी उसके चित्त में वासना होती है उसी के अनुकूल उसकी गति होती है। अर्थात् चित्त में स्थित वासना के अनुसार यह जीव प्राण को प्राप्त होता है और प्राण उसे संकल्पित (इच्छित) लोक प्राप्त करता है ।। ३९ ।।

य एवं विद्वान प्राणं वेद । न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेषः श्लोकः ।। ४० ।।

अर्थ–(यः) जो (विद्वान्) विद्वान् (एवम्) इस प्रकार (प्राणम्) प्राण को (वेद) जानता है (ह) निश्चय (अस्य)

इसकी (प्रजा) सन्तान (वंश) का (न, हीयते) नाश नहीं होता [अर्थात्] (अमृतः) अमर (भवति) होता है (तद्) इसकी [पुष्टि में] (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है ।। ४० ।।

व्याख्या–इस प्राणविद्या के जानने का फल यह कहा गया है कि सन्तान नष्ट नहीं होती है और वह प्राणवित् अमरता प्राप्त करता है। जो मनुष्य के प्राण के व्यापार को जानकर उसके अनुकूल काम करता है उसकी सन्तान क्योंकर नष्ट हो सकती है। सन्तान तो प्राकृतिक नियमों के तोड़ने ही से नष्ट हुआ करती है। प्राणवित् स्वार्थ रहित हो जाने और नियमबद्ध जीवन रखने से जीवनमुक्त होकर अमरता प्राप्त कर लिया करता है ।। ४० ।।

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा । अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायाऽमृतमश्नुते विज्ञायाऽमृतमश्नुत इति ॥ ४१ ॥

अर्थ–(प्राणस्य) प्राण की (उत्पत्तिम्) उत्पत्ति (आयतिम्) शरीर में आने, (पञ्चधा) पाँच प्रकार से अपने को विभक्त करने, (स्थानम्) स्थिति स्थान, (विभुत्वम्) व्यापकत्व (च) और (अध्यात्मम्) शरीरान्तर्गत स्थिति को, (विज्ञाय) जानकर (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है ।। ४१ ।।

व्याख्या–इस वाक्य से, पहले कही गई फलश्रुति की पुष्टि की गई है ।। ४१ ।।

इति तृतीयः प्रश्नः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः प्रश्नः

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ । भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति कस्यैतत् सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ ४२ ॥

अर्थ–(अथ) इसके बाद (ह) निश्चय (एनम्) इस ऋषि से (सौर्यायणी गार्ग्यः) सौर्य के पुत्र गार्ग्य ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (एतस्मिन्) इस (पुरुषे) पुरुष में (कानि) कौन (स्वपन्ति) सोते हैं (कानि) कौन (अस्मिन्) इसमें (जाग्रति) जागते हैं (कतरः एषः) कौन वह (देवः) देव (स्वप्नान्) स्वप्नों को (पश्यति) देखता है (कस्य) किसको (एतत् सुखम्) यह सुख (भवति) होता है। (तु) और (कस्मिन्) किसमें (सर्वे) सब (सम्प्रतिष्ठिताः) स्थित (भवति, इति) होते हैं ॥ ४२ ॥

व्याख्या–इस प्रश्न में स्वप्नावस्था के सम्बन्ध में ये प्रश्न किये गये हैं–

१. इस स्वप्नावस्था में कौन सोते हैं ?

२. कौन जागता रहता है ?

३. कौन स्वप्नों को देखता है ?

४. किसको इस अवस्था में सुख होता है ?

५. किसमें सब स्थित होते हैं ? ॥ ४२ ॥

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य ! मारीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति । ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥ ४३ ॥

अर्थ–(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिए (ह) प्रसिद्ध (सः) वह ऋषि (उवाच) बोला–(गार्ग्य) हे गार्ग्य! (यथा) जैसे (अस्तं गच्छतः) अस्त होते हुए (अर्कस्य) सूर्य की (सर्वाः) सब (मरीचयः) किरणें (एतस्मिन्) इस (तेजोमण्डले) तेजोमण्डल [सूर्य] में (एकीभवन्ति) एकत्रित हो जाती हैं (पुनः पुनः उदयतः) फिर फिर उदय हुए (सूर्य) की (ताः) वे (किरणें) (प्रचरन्ति) फैल जाती हैं (ह, वै) निश्चय (एवम्) इसी प्रकार (तत् सर्वम्) वह सब (इन्द्रिय सामर्थ्य) (परे, देवे मनसि) सूक्ष्म प्रकाशमय मन में [एकीभवति] एकत्रित हो जाता है (तेन) इससे (तर्हि) उस (स्वप्नावस्था) में (एषः, पुरुषः) यह (पुरुष (न, शृणोति), नहीं सुनता (न, पश्यति) नहीं देखता (न जिघ्रति) नहीं सूंघता (न, रसयते) नहीं चखता, (न, स्पृशते) नहीं छूता (न, अभिवदते) नहीं बोलता (न, आदत्ते) नहीं पकड़ता (न, आनन्दयते) नहीं आनन्द का अनुभव करता (न, विसृजते) नहीं छोड़ता और (न, इयायते) नहीं चलता (स्वपिति) सोता है (इति आचक्षते) ऐसा कहते हैं ।। ४३ ।।

व्याख्या–पहली बात का उत्तर एक उदाहरण देकर दिया गया है। ऋषि पिप्पलाद कहते हैं कि जिस प्रकार अस्त होते हुए सूर्य की समस्त किरणें सूर्य में आकर एकत्रित हो जाती हैं और जब सूर्य उदय होता है वे किरणें फिर फैल जाती हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य सोता है तब समस्त इन्द्रियों की शक्ति मन में एकत्रित हो जाती है इसलिए स्वप्नावस्था में समस्त इन्द्रिय-व्यापार बन्द हो जाते हैं और इन्द्रियों के साथ मनुष्य सो जाता है ।। ४३ ।।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ।। ४४ ।।

अर्थ–(एतस्मिन्, पुरे) इस शरीर में (प्राणाग्नयः एव) अग्नि रूप प्राण ही (जाग्रति) जागता है। (एषः अपानः) यह अपान (ह, वै) निश्चय (गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि है

(व्यानः) व्यान (अन्वाहार्यपचनः) दक्षिणाग्नि है (यत्) जो (गार्हपत्यात्) गार्हपत्य अग्नि से (प्रणीयते) बनाया जाता है (प्रणयनात्) (गार्हपत्य अग्नि से) बनाये जाने से (प्राणः) प्राण (आहवनीय) आहवनीय अग्नि है ॥ ४४ ॥

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहः ब्रह्म गमयति ॥ ४५ ॥

अर्थ–(यत्) जो (एतौ) इन (उच्छ्वासनिःश्वासौ) श्वास और निःश्वास [रूप] (आहुती) आहुतियों को (समं, नयति, इति) समता की ओर ले जाता है इससे (सः) वह (समानः) समान है (ह) (निश्चय) (मनः वाव) मन ही (यजमानः) यजमान है (इष्टफलम्) यज्ञ का फल (एव) ही (उदानः) उदान है (सः) वह (उदान) (एनं) इस (यजमानम्) यजमान को (अहरहः) प्रतिदिन (ब्रह्म) सुख को (गमयति) पहुंचाता है॥ ४५ ॥

व्याख्या–दूसरी बात का उत्तर यह है कि इस शरीर में स्वप्नावस्था में अग्नि रूप प्राण ही जागता है, प्राण को अग्नि की उपमा जागृति के कारण ही दी गई है। अब प्राणी के भेद को अग्नि की उपमा के साथ, इस प्रकार जागृत रहते बतलाया गया है।

(१) अपान गार्हपत्य (गृहस्थ-सम्बन्धी) अग्नि है।

(२) व्यान अन्वाहार्य पचन (वानप्रस्थ सेवित) अर्थात् दक्षिणाग्नि है जो गृहस्थ सम्बन्धी अग्नि से प्रज्ज्वलित होती है।

(३) प्राण, गृहस्थ सेवित अग्नि से प्रज्ज्वलित होने के कारण आहवनीय [ब्रह्मचारी सेवित] अग्नि है ॥ ४४ ॥

(४) इस श्वास और निःश्वासरूपी आहुतियों को समता की ओर ले जाने वाला वायु समान है।

(५) मन रूपी यजमान को प्राप्त होने वाला यज्ञफल ही, उदान है। इस [उदान] से यजमान को प्रतिदिन सुख प्राप्त होता रहता है ॥ ४५ ॥

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतंश्रुतमेवार्थमनुशृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतंचानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ ४६ ॥

अर्थ–(अत्र) इस (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में (एषः, देवः) यह देव [मन] अपनी (महिमानम्) महिमा को (अनुभवति) अनुभव करता है (यत्) जिसे (दृष्टम्) देखा है उस (दृष्टम्) देखे हुए को (अनुपश्यति) फिर देखता है (श्रुतम्) सुने हुए को (श्रुतम् एव अर्थम्) सुने हुए ही विषय की तरह (अनुशृणोति) फिर सुनता है (देशदिगन्तरैः च) देश और दिगन्तर में (प्रतिअनुभूतम्) अनुभव किये हुए को (पुनः, पुनः, प्रति अनुभवति) बार-बार फिर अनुभव करता है (च) और दृष्टम् देखे हुए (च) और (अदृष्टम्) न देखे हुए (च) और (श्रुतम्) सुने हुए (च) और (अश्रुतम्) न सुने हुए (च) और (अनुभूतम्) अनुभव किये हुए (च) और (अननुभूतम्) अनुभव न किये हुए (च) और (सत्) विद्यमान (च) और (असत्) अविद्यमान (सर्वम्) सब को (पश्यति) देखता है (सर्वः पश्यति) और सब देखता है ॥ ४६ ॥

व्याख्या–अब तीसरी बात का उत्तर दिया जाता है। मन इस स्वप्नावस्था में अपनी महिमा को अनुभव करता है अर्थात् देखे, सुने और देश-देशान्तर में अनुभव किये को फिर स्वप्न के रूप में देखता, सुनता और अनुभव करता है, न सिर्फ देखे सुने और अनुभव किये हुए बल्कि इस जन्म में न देखे, न सुने और न अनुभव किये हुए परन्तु पिछले जन्मों में देखे, सुने और अनुभव किये हुए को भी फिर-फिर देखता, सुनता और अनुभव करता है। इसी प्रकार जो विद्यमान है और जो इस समय या इस जन्म में विद्यमान नहीं, उन्हें भी देखता है। इस वाक्य में यह बात बतलाई गई है कि स्वप्न में मनुष्य क्या देखता है अर्थात् वह जो कुछ देखता, सुनता आदि है वह या तो इस जन्म का देखा, सुना या अनुभव किया हुआ होता है जो स्मृति आदि के रूप में चित्त

पर अंकित रहता है कोई ऐसी बात नहीं देखता जिसका इस जन्म या पिछले जन्मों के उपार्जित ज्ञान से सम्बन्ध न हो। पिछले जन्मों में देखी, सुनी आदि बातों को अदृष्ट और अश्रुत वर्तमान स्थूल शरीर को इन्द्रियों की अपेक्षा से, कहा गया है अर्थात् इन आँखों और कानों से न देखे, न सुने हुए होने के कारण से अदृष्ट और अश्रुत हैं ।। ४६ ।।

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति। अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिन् शरीरे एतत् सुखं भवति ।। ४७ ।।

अर्थ–(सः) वह [मन] (यदा) जब (तेजसा) तेज से (अभिभूतः) हीन (भवति) होता है (अत्र) इस [सुषुप्त] अवस्था में (एषः देवः) यह मन (स्वप्नान्) स्वप्नों को (न, पश्यति) नहीं देखता है (अथ) इसके बाद (तदा) तब (एतस्मिन् शरीरे) इस शरीर में (एतत्, सुखम्) यह सुख (भवति) होता है ।। ४७ ।।

व्याख्या–अब चौथे प्रश्नों का उत्तर देते हैं–

जब यह मन तेजहीन हो जाता है तब इस तीसरी सुषुप्त अवस्था को प्राप्त होने पर मन स्वप्नों को नहीं देखता तब इस शरीर में सुख की प्राप्ति होती है और उस समय इस सुख का अनुभवकर्त्ता आत्मा ही होता है ।। ४७ ।।

स यथा सोम्य वयांसि वासीवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते । एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठन्ते ।। ४८ ।।

अर्थ–(सः) वह (यथा) जैसे (सोम्य) हे सौम्य! (वयांसि) पक्षी (वासीवृक्षम्) वसेरे के वृक्ष पर (संप्रतिष्ठन्ते) ठहरते हैं (ह वै) निश्चय (एवम्) इसी प्रकार (तत्, सर्वम्) वह सब [मन, इन्द्रयादि] (परे आत्मनि) सूक्ष्म आत्मा में (सम्प्रतिष्ठन्ते) ठहरते हैं ।। ४८ ।।

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चाऽऽपश्चाऽऽपोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाऽऽकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चाऽऽदातव्यं चोपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं

च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्त्तव्यञ्च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ४९ ॥

अर्थ–(पृथिवी, च, पृथिवी मात्रा, च) पृथिवी और उसकी तन्मात्रा (गन्ध) (आपः, च आपोमात्रा, च) पानी और उसकी तन्मात्रा (रस) (तेजः च, तेजोमात्रा, च) तेज और उसकी तन्मात्रा (रूप) (वायुः च वायुमात्रा च) वायु और उसकी तन्मात्रा (स्पर्श) (आकाशः, च, आकाशमात्रा च) आकाश और आकाश की मात्रा (शब्द) (चक्षुः, च द्रष्टव्यं च) आँख और देखने योग्य वस्तु (श्रोत्रं, च, श्रोतव्यं, च) कान और सुनने योग्य पदार्थ (घ्राणं च, घ्रातव्यं च) नाक और सूंघने योग्य वस्तु (रसः, च, रसयितव्यं, च) जीभ और चखने योग्य पदार्थ (त्वक्, च, स्पर्शयितव्यं, च) त्वचा और छूने योग्य वस्तु (वाक्, च, वक्तव्यं, च) वाणी और कहने योग्य वस्तु (हस्तौ, च, आदातव्यं, च) दो हाथ और ग्रहण करने योग्य पदार्थ (उपस्थः, च, आनन्दयितव्यं, च) उपस्थ और उसके द्वारा होने वाला सुख (पायुः च, विसर्जयितव्यं च) गुदा और उसका कार्य मल-त्याग (पादौ, च, गन्तव्यं च) दो पैर और उनका कार्य चलना (मनः, च, मन्तव्यं, च) मन और मनन करने योग्य पदार्थ (बुद्धिः, च, बोद्धव्यं, च) बुद्धि और जानने योग्य वस्तु (अहङ्कारः, च, अहङ्कर्त्तव्यं, च) अहंकार और ममता का नाता जोड़ने वाले पदार्थ (चित्तं, च, चेतयितव्यं, च) चित्त और चिन्तन करने योग्य वस्तु (तेजः, च, विद्योतयितव्यं, च) तेज और प्रकाश करने योग्य पदार्थ (प्राणः, च, विधारयतिव्यं, च) प्राण और प्राण के व्यापार योग्य वस्तु ॥ ४९ ॥

व्याख्या–अब अन्तिम प्रश्न का उत्तर देते हुए ऋषि प्रकट करते हैं कि उस [सुषुप्त] अवस्था में जिस प्रकार पक्षी बसेरा लेने योग्य वृक्ष पर रात्रि में बसेरा लेने के लिए ठहरते हैं इसी प्रकार मन, इन्द्रिय और उनके विषय रूप रसादि सभी आत्मा के आश्रय में ठहरते हैं और सभी निष्क्रिय रहते हैं ॥ ४८-४९ ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः । स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥५०॥

अर्थ–(हि) निश्चय (एषः) यह (द्रष्टा) देखने वाला (स्प्रष्टा) स्पर्श करने वाला (श्रोता) सुनने वाला (घ्राता) सूंघने वाला (रसयिता) चखने वाला (मन्ता) मनन करने वाला (बोद्धा) जानने वाला (कर्त्ता) कर्म करने वाला (विज्ञानात्मा) ज्ञानस्वरूप (पुरुषः) जीवात्मा है (सः) वह (परे, अक्षरे, आत्मनि) अपने से भी सूक्ष्म, अविनाशी परमात्मा में (संप्रतिष्ठते) ठहरता है ॥५०॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः ॥५१॥

अर्थ–(सोम्य) हे सौम्य! (यः) जो (ह, वै) निश्चय (यः तद्) उस (अच्छायम्) तम रहित (अशरीरम्) निराकार (अलोहितं) अप्राकृतिक (शुभ्रम्) निर्मल (अक्षरम्) अविनाशी (ब्रह्म) को (वेदयते) जानता है (सः) वह (परम् एव, अक्षरम्) परम अक्षर ब्रह्म को (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है (तु) और (सः) वह (सर्वज्ञः) सब जानने वाला (सर्वः भवति) और सब कुछ होता है (तद्) इसकी पुष्टि में (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है ॥५१॥

व्याख्या–अब प्रश्न के उत्तर को समाप्त करते हुए ऋषि फलश्रुति कहते हैं। जो जीव उस तम रहित, निराकार, अप्राकृतिक, निर्मल, अविनाशी ब्रह्म को जानता है वह उसे प्राप्त कर लेता है और अन्य अज्ञानग्रस्त प्राणियों की अपेक्षा सब कुछ जानने वाला तथा सब कुछ हो जाता है। इसकी पुष्टि में एक प्रमाण दिया गया है ॥५१॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सह सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ते यत्र। तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशेति ॥५२॥

अर्थ–(सोम्य) हे सौम्य ! (प्राणः) प्राण (भूतानि) पञ्चभूत (सर्वैः, देवैः, सह) समस्त इन्द्रियों के साथ (यत्र) जिस (ब्रह्म) में (संप्रतिष्ठन्ते) ठहरते हैं (तद् अक्षरम्) उस अविनाशी ब्रह्म को (यः, विज्ञानात्मा) जो जीवात्मा (वेदयते) जानता है (सः) वह (जीव) (सर्वज्ञः) सब जानने वाला (सर्वम्, एव) सब को ही (आविवेश, इति) प्रवेश करता है ॥५२॥

व्याख्या–जिन ब्रह्म में प्राण समस्त इन्द्रियों के साथ ठहरता है उस अविनाशी ब्रह्म को जीव जान लेता है वह सब कुछ जानने वाला होता है और सभी जगह उसका प्रवेश होता है ॥५२॥

इति चतुर्थः प्रश्नः ॥४॥



अथ पञ्चमः प्रश्नः

अथ हैनं शैव्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद् भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ ५३ ॥

अर्थ–(अथ) इसके बाद (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस [ऋषि] से (शैव्यः, सत्यकामः) शिवि के पुत्र सत्यकाम ने [पप्रच्छ] पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (ह, वै) निश्चय (मनुष्येषु) मनुष्यों में (सः, यः) जो कोई (प्रायणान्तम्) मृत्यु के अन्त समय में (तद्) उस (ओङ्कारम्) ओंकार का (अभिध्यायीत) ध्यान करे (वाव) निश्चय (सः) वह [ध्याता] (तेन) उस [ध्यान] से (कतमम्) कौन से (लोकम्) लोक को (जयति, इति) जीतता है ॥ ५३ ॥

व्याख्या–वेद ने शिक्षा दी है कि जब किसी मनुष्य के शरीर और आत्मा के वियोग का समय हो तो ऐसे समय में उस पुरुष को ओ३म् का स्मरण करना चाहिए (देखो यजुर्वेद ४०/१७)। अब उसके सम्बन्ध में सत्यकाम पूछता है कि ऐसा पुरुष किस गति को प्राप्त होता है? ॥ ५३ ॥

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम! परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति ॥ ५४ ॥

अर्थ–(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिए (ह) प्रसिद्ध (स) वह [ऋषि] (उवाच) बोला कि (सत्यकाम) हे सत्यकाम ! (यत्) जो (परं, च, अपरं च ब्रह्म) पर और अपर ब्रह्म है (एतद् वै) यही (ओङ्कारः) ओंकार है (तस्मात्) इसलिए (विद्वान्) विद्वान् (एतेन, एव) इस ही (आयतनेन) आश्रय से (एकतरम्) [पर और अपर इन] दोनों में से एक को (अन्वेति) प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

व्याख्या–ईश्वरोपासना के दो उद्देश्य होते हैं। (१) जप द्वारा जगत् में गुणगान्, श्रेष्ठ और निर्भीक बनकर, जगत् का

पूर्णतया उपभोग करते हुए, इस सांसारिक जीवन को परलोक का साधन बनाना (२) दूसरे परलोक की ओर चलते और आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति को जाग्रत करते हुए परमात्म-साक्षात् करना इनमें से पहला प्रेय और दूसरा श्रेय मार्ग कहलाता है। प्रेय मार्ग में उपासक का सम्बन्ध वाचक [शब्द] ब्रह्म से रहता है और श्रेय मार्ग में वाच्य (अर्थ) ब्रह्म से होता है। पहले को अपर (ब्रह्म) और दूसरे को पर (ब्रह्म) कहते हैं। इसका विवरण इस प्रकार समझना चाहिए—

(१) वाचक = संज्ञा = शब्द = अपर = ओंकार।

(२) वाच्य = संज्ञी = अर्थ = पर = ओंकारपदवाच्य ब्रह्म।

उपनिषद् के इस वाक्य में ऋषि पिप्पलाद सत्यकाम से कहते हैं कि उपासक उपर्युक्त दोनों में से एक पथ का पथिक बना करता है, इन्हीं को अभ्युदय और निःश्रेयस भी कहते हैं ॥५४॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥५५॥

अर्थ—(सः) वह (ध्याता) (यदि) अगर (एकमात्रम्) [ओंकार की] एकमात्रा (अकार को (अभिध्यायीत) ध्यान करे (सः) वह [एकमात्रा का ध्यान करने वाला] (तेन, एव) उस ही (एकमात्रा के ध्यान से (संवेदितः) सावधान हुआ (तूर्णम् एव) शीघ्र ही (जगत्याम्) जगत् में (अभिसंपद्यते) सम्पन्न होता है (तम्) उसको (ऋचः) ऋचाएँ [ऋग्वेद के मन्त्र] (मनुष्य, लोकम्) मनुष्य लोक को (उपनयन्ते) प्राप्त कराती हैं (सः) वह (तत्र) वहाँ मनुष्य लोक में (तपसा) तप से (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रिय संयम से और (श्रद्धया) श्रद्धा से (सम्पन्नः) सम्पन्न होकर (महिमानम्) [ईश्वर की] महिमा को (अनुभवति) अनुभव करता है ॥५५॥

व्याख्या—जगत् में ब्रह्म के तीन रूप कल्पना किये जाते हैं—

(१) व्यक्त– जगत् की रचना जो मनुष्यलोक (पृथिवी आदि जहाँ मनुष्य रहते हैं) में देखी जाती है वे मानो अपने रचयिता (ब्रह्म) का उसकी रचना द्वारा मनुष्यों को साक्षात् कराती रहती है और इसीलिए इस लोक में ब्रह्म को व्यक्त समझा और कहा जाता है।

(२) व्यक्ताव्यक्त– अर्थात् कुछ प्रकट और कुछ अप्रकट ब्रह्म के इस रूप को अन्तरिक्ष (स्वर्गलोक) प्रकट किया करता है।

(३) अव्यक्त– ब्रह्म के इस रूप को उपासक द्यौ [प्रकाशक] लोक में मुक्त होकर देखा करता है।

उपनिषद् के इस वाक्य में इन तीनों रूपों को समष्टि रूप से ओंकार और पृथक्-पृथक् पहले को अकार, दूसरे को अकार + उकार और तीसरे को अकार, उकार और मकार (ओ३म्) कहा गया है। जब मनुष्य इस व्यक्त (मनुष्य) लोक में ब्रह्म को अकारवत् सब जगत् में मौजूद समझकर तप ब्रह्मचर्य और श्रद्धापूर्वक जीवन व्यतीत करता है तब वह इस व्यक्त ब्रह्म की जगत् में प्रत्यक्ष महिमा को अनुभव किया करता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के साधन ऋग्वेद के मन्त्र होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य को इस लोक में उपस्थित वस्तुओं का यथार्थ (तत्त्व) ज्ञान प्राप्त हुआ करता है ।। ५५ ।।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते स सोमलोकम् स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ।। ५६ ।।

अर्थ–(अथ) और (यदि) जो (द्विमात्रेण) दो मात्राओं [अकार + उकार] से (मनसि) मन में (सम्पद्यते) प्राप्त होता = ध्यान करता है (सः) वह (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (सोमलोकम्) सोम = चन्द्रलोक को (यजुर्भिः) यजुर्वेद से (उन्नीयते) ले जाया जाता है (सः) वह (सोमलोक) चन्द्रलोक में (विभूतिम्) ऐश्वर्य को (अनुभूय) अनुभव करके (पुनः) फिर (आवर्त्तते) [इस पृथ्वी पर] आता है ।। ५६ ।।

व्याख्या–जब मनुष्य अकार और उकार दोनों मात्राओं से सम्बन्ध जोड़कर ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा सकाम यज्ञादि कर्मों को आचरण में लाया करता है तो इस [कर्म] के फल रूप से वह अन्तरिक्ष [स्वर्ग] लोक को प्राप्त करता है अर्थात् ऐसे लोकों और ऐसी योनि से जन्म लेता है जहाँ उसे आवागमन के सिवा सुख ही सुख प्राप्त होता है और जहाँ ऐसा मनुष्य ईश्वर को कुछ देखता और कुछ नहीं देखता है और उसे उस [चन्द्र लोक] श्रेष्ठ (मनुष्य) योनि से उसे (उत्तम फल भोगने के बाद दुःख-सुख मिश्रित [मनुष्य] योनि में लौटना पड़ता है। इस वाक्य में मनुष्य को दोनों मात्राओं से मन को प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है। इसका भी तात्पर्य यही है कि मनुष्य मन से आत्मा की ओर मुंह करके ब्रह्म की ओर चलता है और इसके विरुद्ध इन्द्रियों की ओर मुंह करके परमात्मा से दूर हुआ करता है। क्योंकि मन, आत्मा और इन्द्रियों के बीच की एक कड़ी है ।।५६ ।।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्य्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते, तदेतौ श्लोकौ भवतः ।।५७ ।।

अर्थ–(पुनः) फिर (यः) जो (त्रिमात्रेण) तीन मात्रा से (ओ३म् इति एतेन, एव, अक्षरेण) ओ३म् इस ही अक्षर से (एतं परं, पुरुषम्) इस परम पुरुष [ईश्वर] को (अभिध्यायीत) ध्यान करे (सः) वह (तेजसि) तेजस्वी (सूर्य्ये) सूर्यलोक में (सम्पन्नः) प्राप्त होता है (यथा) जैसे (पादोदरः) साँप (त्वचा) कैंचुली से (विनिर्मुच्यते) पृथक् हो जाता है (ह वै) निश्चय (एवम्) इसी प्रकार (सः) वह (पाप्मना) पाप से (विनिर्मुक्तः) छूट जाता है (सः) वह (सामभिः) सामवेद के मन्त्रों से (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्मलोक को (उन्नीयते) ले जाया

जाता है (सः) वह (एतस्मात्) इस (परात्) सूक्ष्म [जीवघनात्] जीव समूह से (परम्) सूक्ष्म (पुरिशयम्) व्यापक (पुरुषम्) ईश्वर को (ईक्षते) देखता है [तद्] इसकी पुष्टि में [एतौ श्लोक] ये दो श्लोक (भवतः) हैं ॥५७॥

व्याख्या–अब जब मनुष्य तीनों मात्रायुक्त पूर्ण ओ३म् का ध्यान करता है तो तेजयुक्त होकर, सूर्यलोक के मध्य में से साँप की कैंचुली छोड़ने के सदृश, समस्त पापों से मुक्त होकर ईश्वरोपासना सम्बन्धी सामवेद के मन्त्रों से, ब्रह्मलोक को प्राप्त करके ईश्वर को साक्षात् कर लिया करता है ॥५७॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥५८॥

अर्थ–(अन्योन्यसक्ताः) एक दूसरे से सम्बन्धित (अनविप्रयुक्ताः) केवल शब्द ही में प्रयोग की गई (तिस्रः मात्राः) तीन मात्राएँ (मृत्युमत्यः) मरण धर्म वाली (प्रयुक्ताः) कही गई हैं (बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु) जागृत, सुषुप्ति और स्वप्न [रूप] (क्रियासु) क्रियाओं में (सम्यक्) भली-भांति (प्रयुक्तासु) प्रयोग करने पर (ज्ञः) ज्ञानी पुरुष (न, कम्पते) विचलित नहीं होता ॥५८॥

व्याख्या–अब जब उपासक इन तीनों मात्राओं को केवल शब्द (वाचक) में प्रयुक्त करता है तब वह आवागमन से नहीं छूटा करता परन्तु जब जागृत् और स्वप्न के सदृश मनुष्य और अन्तर्मुखी वृत्ति (स्वर्ग) लोकों को छोड़कर सुषुप्ति के सदृश अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा आत्मरत होता है तब उपासक समस्त दुःखों से छूट जाता है ॥५८॥

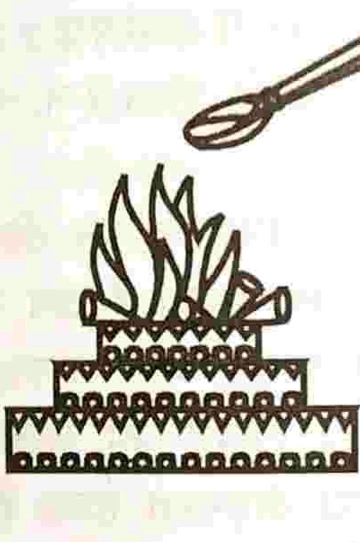
ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥५९॥

अर्थ–(सः) वह (ऋग्भिः) ऋग्वेद से (एतम्) इस [मनुष्य लोक] को (यजुर्भिः) यजुर्वेद से (अन्तरिक्षम्)

अन्तरिक्ष को (सामभिः) सामवेद से (यत् तत्) उस जिसको (कवयः) विद्वान् लोग (वेदयन्ते) जानते हैं (तत्) उसको (विद्वान्) विद्वान् (ओङ्कारेण, एव) ओंकार ही के (आयतनेन) अवलम्ब से (अन्वेति) प्राप्त होता है (यत्) जो (शान्तम्) शान्त (अजरम्) जरा (परिवर्तन) रहित (अमृतम्) अमर (अभयम्) भय रहित (च) और (परम्) सर्वोत्कृष्ट है (तत्) उस [ब्रह्म] को (एति) प्राप्त होता है ॥५९॥

व्याख्या–जब मनुष्य ऋग्, यजुः और साम (ज्ञान, कर्म और उपासना) तीनों को काम में लाता हुआ इस लोक तथा स्वर्गलोक से ऊपर होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लिया करता है जो शान्त, जरा और मृत्यु रहित लोक है तभी उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है ॥५९॥

इति पञ्चमः प्रश्नः ॥५॥



अथ षष्ठः प्रश्नः

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ–भगवन्! हिरण्यनाभः कौशल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत् षोडशकलं भारद्वाज! पुरुषं वेत्थ? तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद, यद्यहमिममवेदिषं, कथं ते नावक्ष्यमिति, समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति, तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति॥ ६०॥

अर्थ–(अथ) इसके बाद (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस (ऋषि) से (सुकेशाः भारद्वाजः) भारद्वाज के पुत्र सुकेशा ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन्! (हिरण्यनाभः) हिरण्यनाभ (कौशल्यः राजपुत्रः) कौशल देश के राजपुत्र ने (माम्) मुझको (उपेत्य) आकर (एतं, प्रश्नम्) यह प्रश्न (अपृच्छत्) पूछा कि (भारद्वाज) हे भरद्वाज के पुत्र! (षोडशकलम्) सोलह कला वाले (पुरुषम्) पुरुष को (वेत्थ) जानता है? (अहम्) मैंने (तम् कुमारम्) उस राजकुमार को (अब्रुवम्) कहा कि (अहम्) मैं (इमम्) इसको (न, वेद) नहीं जानता (यदि) जो (अहम्) मैं (अवेदिषम्) जानता होता तो (कथम्) क्योंकर (ते) तेरे लिए (न, अवक्ष्यम् इति) न कहता (वै) निश्चय (एषः) यह (समूलः) मूल सहित (परिशुष्यति) सूख जाता है (यः) जो (अनृतम्) झूठ (अभिवदति) बोलता है (तस्मात्) इसलिए (अनृतम्) झूठ (वक्तुम्) कहने को, मैं (न, अर्हामि) समर्थ नहीं हूं (सः) वह (राजकुमार) (तूष्णीम्) चुपचाप (रथम्) रथ में (आरुह्य) सवार होकर (प्रवव्राज) चला गया (तं) उस सोलह कला वाले पुरुष को (त्वा) तुझसे (पृच्छामि) पूछता हूँ कि (असौ, पुरुषः) यह पुरुष (क्व, इति) कहाँ है॥ ६०॥

व्याख्या–इस प्रश्न के द्वारा भारद्वाज ने १६ कला वाले पुरुष के लिए पूछा है कि वह कौन है ? कहाँ है ? और ये १६ कलायें क्या वस्तु हैं ॥ ६० ॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तः शरीरे सोम्य ! स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति ॥ ६१ ॥

अर्थ–(तस्मै) उस (भारद्वाज) के लिए (सः) वह (ऋषि) (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (सोम्य) हे सौम्य ! (इह) इस (एव) ही (अन्तःशरीरे) शरीर में (सः) वह (पुरुषः) पुरुष है (यस्मिन्) जिसमें (एताः) ये (षोडश, कलाः) सोलह कलायें (प्रभवन्ति, इति) उत्पन्न होती हैं ॥ ६१ ॥

व्याख्या–पिप्पलाद ऋषि ने भारद्वाज के प्रश्न का उत्तर यह दिया कि वह १६ कला वाला पुरुष (ईश्वर) इस (मनुष्य) शरीर ही में है अर्थात् मनुष्य जिस समय उसे जानना और प्रत्यक्ष करना चाहता है तो वह स्थान जहाँ वह देखा और प्रत्यक्ष किया जाता है मनुष्य के शरीर के अन्दर का हृदयाकाश ही है। उसी पुरुष में ये सोलह कलायें उत्पन्न होती हैं। ये १६ कलायें क्या हैं इसका विवरण आगे मिलेगा ॥ ६१ ॥

स ईक्षाञ्चक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि ॥ ६२ ॥

अर्थ–(सः) उस (पुरुष) ने (ईक्षाञ्चक्रे) ईक्षण (चिन्तन) किया कि (अहम्) मैं (कस्मिन्) किसके (उत्क्रान्ते) निकल जाने पर (उत्क्रान्तः) निकला हुआ (भविष्यामि) हो जाऊंगा (वा) और (कस्मिन्) किसके (प्रतिष्ठिते) प्रतिष्ठित होने पर (प्रतिष्ठास्यामि) प्रतिष्ठित होऊंगा ॥ ६२ ॥

व्याख्या–मनुष्य का शरीर जब तक उसमें आत्मा (जीव) और प्राकृतिक शरीर का मेल रहता है, मनुष्य शरीर कहलाता है और जब तक वह मनुष्य शरीर (आत्मा और शरीर का संघात) रहता है तभी तक वह ईश्वर के साक्षात् करने का स्थान रहा करता है। इस दृष्टि से इस वाक्य में कहा गया है कि उस पुरुष (ईश्वर) ने चिन्तन किया कि किसके निकल

जाने से वह शरीर से निकला हुआ और किसके रहने से वह शरीर में प्रतिष्ठित समझा जायेगा। ईश्वर यद्यपि अपने सर्वव्यापकत्व से शरीर और आत्मा का वियोग होने पर भी दोनों में व्यापक रहता है परन्तु जहाँ तक उपासक द्वारा उसके साक्षात्कार करने का सम्बन्ध है उस सम्बन्ध की दृष्टि से वह निकले हुए होने ही के सदृश हो जाता है क्योंकि केवल शव या केवल जीव में कोई उपासक उसका साक्षात्कार नहीं कर सकता ।। ६२ ।।

स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मलोकाः लोकेषु नाम च ॥ ६३ ॥

अर्थ–(सः) उस (ईश्वर) ने (प्राणम्) प्राण को (असृजत्) उत्पन्न किया (प्राणात्) प्राण से (श्रद्धाम्) श्रद्धा (खम्) आकाश (वायुः) वायु (ज्योतिः) अग्नि (आपः) जल (पृथिवी) पृथिवी (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (मनः) मन (अन्नम्) अन्न (उत्पन्न किये) (अन्नात्) अन्न से (वीर्यम्) वीर्य (तपः) तप (मन्त्राः) मन्त्र [कर्म] कर्म [लोकाः] लोक और लोकेषु लोकों में [नाम, च] नाम [उत्पन्न किया] ।। ६३ ।।

व्याख्या–इस वाक्य में ईश्वर द्वारा उत्पन्न की हुई सोलह कलाओं का विवरण इस प्रकार दिया हुआ है–

(१) प्राण–सं० ८ तथा ९ में सम्मिलित
(२) श्रद्धा–जिससे मनुष्य ईश्वर को प्राप्त किया करता है।
(३) आकाश |
(४) वायु | → अग्नि
(५) ज्योतिः अग्नि पञ्च-स्थूल भूत जिनसे स्थूल
(६) जल |
(७) पृथ्वी | → शरीर बना करता है।
(८) इन्द्रिय । सं० १ [प्राण] मन और इन्द्रिय तथा उनके
(९) मन । विषयों [रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श] से सूक्ष्म शरीर बना करता है।

(१०) अन्न–मनुष्य के जीवन का हेतु
(११) वीर्य--शक्ति
(१२) तप–नियमबद्धता
(१३) मन्त्र–वेदरूपी ईश्वरीय ज्ञान
(१४) कर्म–सकाम और निष्काम कर्म
(१५) लोक–समस्त नक्षत्र और मनुष्यादि योनियां
(१६) नाम–जगत्स्थ चराचर वस्तुओं की प्रसिद्धि का कारण

१६ कलाओं के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उनमें आत्मा परमात्मा और जीवात्मा को छोड़कर अन्य सभी बातों का समावेश है जिनसे मनुष्य संसार में अपने सभी प्रकार के व्यापारों की सिद्धि किया करता है, इन्हीं १६ कलाओं के प्राप्त हो जाने पर जीव भी 'षोडशकल' हो जाता और कहा भी जाता है और इन्हीं की उत्पत्ति का निमित्त कारण और उत्पत्ति के बाद इनका आधार होने से ईश्वर भी 'षोडशकल' कहा जाता है ।। ६३ ।।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते, एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति, तदेष श्लोकः ।। ६४ ।।

अर्थ–(सः) सो (यथा) जैसे (इमाः) ये (नद्यः) नदियां (स्यन्दमानाः) बहती हुई (समुद्रायणाः) समुद्र ही अयनस्थान है जिनका (समुद्रम्) समुद्र को (प्राप्य) पाकर (अस्तम्) अस्त (गच्छन्ति) हो जाती हैं (तासाम्) उनके (नाम, रूपे) नाम और रूप (भिद्येते) मिट जाते हैं। (समुद्र, इति) समुद्र ही (एवम्) ऐसा (प्रोच्यते) कहा जाता है (एवम्) ऐसे ही (अस्य) इस (परिद्रष्टुः) सर्वद्रष्टा (ईश्वर) की (इमाः, षोडश, कलाः) ये १६ कलायें (पुरुषायणाः) पुरुष (ईश्वर) ही अयन = स्थान है जिनका (पुरुषम्) पुरुष को (प्राप्य)

प्राप्त होकर (अस्तं, गच्छन्ति) अस्त हो जाती हैं (च) और (आसाम्) इनके (नामरूपे) नाम और रूप (भिद्येते) मिट जाते हैं (पुरुष, इति, एवम्) पुरुष है ऐसा (प्रोच्यते) कहा जाता है (सः एषः) वह यह (सर्वद्रष्टा) (अकलः) कलारहित (अमृतः) अमर (भवति) होता है। (तद्) इसकी (पुष्टि में) (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है ॥ ६४ ॥

व्याख्या–अब जगत् की समाप्ति प्रलयावस्था का वर्णन करते हुए उपनिषद्कार कहते हैं कि जब वे समस्त कलायें अपने प्रचलित रूप और अवस्था को छोड़कर अपने-अपने कारण में लीन हो जाती हैं। तब इनका नदियों के समुद्र में मिल जाने के सदृश, नाम और रूप कुछ नहीं रहता और सबका एक नाम पुरुष (ईश्वर) हो जाता है। प्रलयावस्था में सभी कुछ नाम रूप रहित होकर सर्व-व्यापकत्व और सर्व-आधारतत्त्व से ईश्वर ही में रहते हैं। रहते तो ये सब कुछ वर्तमान अवस्था में अब भी ईश्वर ही के अन्दर हैं परन्तु अब सबका नाम, रूप पृथक्-पृथक् होने से सबका नानात्व बना रहता है। अत्यन्त दहकते हुए लोहे के गर्म गोले को जिस प्रकार लोहे का गोला भी कहते हैं और अग्नि का गोला भी, इसी प्रकार प्रकृति कारण रूप जगत् को, जिसमें १६ कलायें (प्राकृतिक कलायें) प्रलय में जाकर लीन हो जाती हैं प्रकृति भी कहते हैं और ईश्वर भी। इसी दृष्टि से इस वाक्य में प्राकृतिक कलाओं को अपने में लीन करने वाले कारण को ईश्वर कहा गया है। अप्राकृतिक कलायें मन्त्रादि तो अपने कारण ईश्वर ही में लीन होते हैं इसलिए उनको अपने में लीन करने वाले कारण का नाम तो प्रत्येक प्रकार से ईश्वर ही होता है। उपनिषद् के इस वाक्य की पुष्टि में एक प्रमाण भी दिया गया है ॥ ६४ ॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६५ ॥

अर्थ–(रथनाभौ) रथ के पहिये की धुरी में (अराः, इव) अरों की तरह (यस्मिन्) जिनमें (कलाः) (१६) कलायें

(प्रतिष्ठिताः) स्थित हैं (तम्) उस (वेद्यम्) जानने योग्य (पुरुषम्) पुरुष को (वेद) जानो (यथा) जिससे (वः) तुमको (मृत्युः) मौत (मा, परिव्यथाः इति) न सतावे ।। ६५ ।।

व्याख्या–जिस प्रकार पहिये की धुरी में अरे जुड़े हुए होते हैं इसी प्रकार उस पुरुष (ईश्वर) में ये १६ कलायें स्थित हैं। उसे जानने योग्य पुरुष के जानने का प्रयत्न प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिये क्योंकि उसी के जानने से मनुष्य मौत के बन्धन से छूट जाता है ।। ६५ ।।

तान् होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति ॥ ६६ ॥

अर्थ–(तान्) उन (छहों प्रश्नकर्त्ताओं से पिप्पलाद ऋषि) (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (एतावत्, एव) इतना ही (अहम्) मैं (एतत्) इस (परं, ब्रह्म) परमात्मा को (वेद) जानता हूं (अतः) इससे (परम्) सूक्ष्म (न, अस्ति, इति) कुछ नहीं है ।। ६६ ।।

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम-ऋषिभ्यः ॥ ६७ ॥

अर्थ–(ते) वे (छहों प्रश्नकर्त्ता) (तम्) उस (ऋषि) को (अर्चयन्तः) पूजा करते हुए (बोले) (त्वम् हि) तू ही (नः) हमारा (पिता) रक्षक है (यः) जो (अस्माकम्) हम को (अविद्यायाः) अविद्या के (परं, पारम्) परली पार (तारयसि, इति) तराता है (परम ऋषिभ्यः) महान् ऋषियों के लिए (नमः) नमस्कार है ।। ६७ ।।

व्याख्या–पिप्पलाद ऋषि के छहों प्रश्नों के उत्तर देने के बाद प्रश्नकर्त्तागण ऋषि के लिए, कृतज्ञता प्रकट करते हुए, आदर और सम्मान के साथ, नमस्कार करते हैं ।। ६७ ।।

इति षष्ठः प्रश्नः ॥ ६ ॥

इति प्रश्नोपनिषद् समाप्तः


ओ३म्
यहाँ पर आपको मिलेगी वैदिक धर्म के समस्त ग्रन्थ व ऋषि मुनियों कृत ग्रन्थ !
विश्व के सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद से लेकर
चाणक्य नीति श्रीमद्भगवद्गीता तक।
डाउनलोड करें के लिए टेलीग्राम एप्लिकेशन
मे वैदिक पुस्तकालय सर्च करके चैनल
ज्वाईन करें।
वैदिक पुस्तकालय